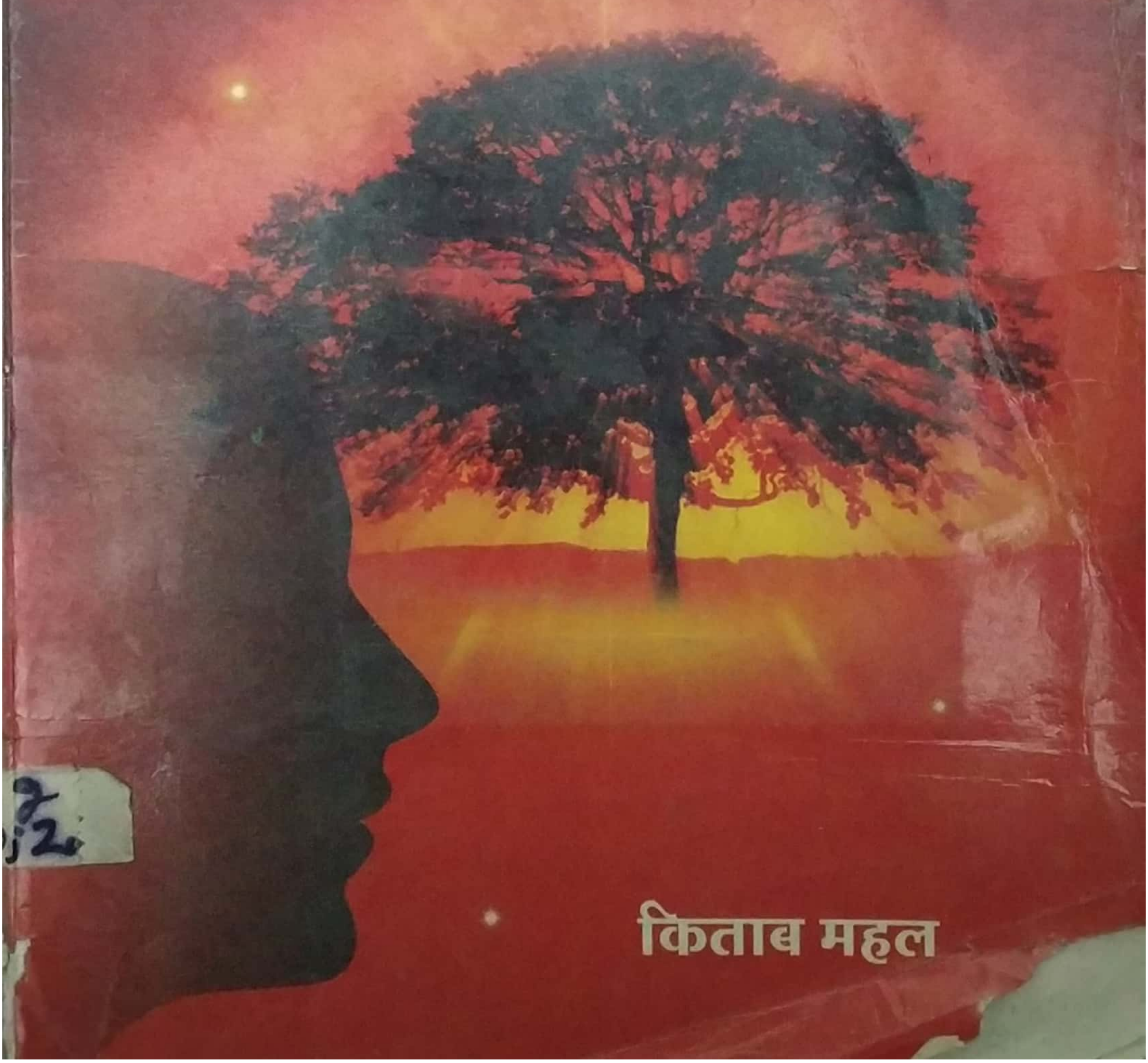
अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका

डॉ. जगदीश सहाय श्रीवास्तव



किताब महल

भूमिका

'अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका' का तृतीय संस्करण पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। प्रयाग विश्वविद्यालय में अद्वैत वेदान्त के अध्ययन-अध्यापन की एक दीर्घ परम्परा है। प्रोफेसर गफ, थीबो, डॉ० गंगानाथ झा, प्रोफेसर रानाडे, प्रोफेसर शिवशंकर राय एवं प्रोफेसर संगम लाल पाण्डेय अद्वैत वेदान्त के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की शृंखला की सुदृढ़ कड़ियाँ हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय अद्वैत वेदान्त के अध्ययन-अध्यापन को कितना महत्त्व देता है, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि यहाँ एम० ए० (उत्तरार्ध) में 'शंकर' एवं 'अद्वैत वेदान्त' नाम के दो पाठ्य-क्रम निर्धारित हैं। "शंकर" में केवल शंकराचार्य के दार्शनिक विचारों का अध्ययन किया जाता है किन्तु "अद्वैत वेदान्त" में गौडपाद, वाचस्पति मिश्र एवं चित्सुखाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का अनुशीलन किया जाता है। 'अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका' का वर्तमान संस्करण उपर्युक्त दोनों पाठ्य-क्रमों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की चेष्टा करता है।

शंकराचार्य अद्वैत वेदान्त के एक मौलिक विचारक थे। उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण दर्शन के विविध पहलुओं पर एक विशाल साहित्य प्रस्तुत किया। 'ब्रह्मसूत्र' के ऊपर उनका शारीरक भाष्य अद्वैत दर्शन की एक अमूल्य निधि है। इसके गम्भीर एवं निगूढ़ विचारों को स्पष्ट करने के लिए वाचस्पति मिश्र ने "भामती" नामक टीका लिखी। भामती अद्वैत वेदान्त की एक सुप्रसिद्ध पाण्डित्यपूर्ण रचना है। शारीरक भाष्य एवं भामती दोनों का साथ-साथ अध्ययन करने से अद्वैत वेदान्त के दार्शनिक विचार जितने स्पष्ट हो जाते हैं उतने उनका पृथक्-पृथक् अध्ययन करने से नहीं होते। इन दोनों रचनाओं के अतिरिक्त चित्सुखाचार्य की चित्सुखी या तत्त्वप्रदीपिका अद्वैत वेदान्त की एक प्रौढ़ रचना है जिसमें अद्वैत दर्शन के दार्शनिक विचारों को न्याय-शैली में प्रस्तुत किया गया है। "अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका" में इन सभी ग्रन्थों के विचारों को सरल एवं स्पष्ट भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

चित्सुखाचार्य की चित्सुखी या तत्त्वप्रदीपिका अद्वैत वेदान्त के दुरूहतम ग्रन्थों में से एक ग्रन्थ है। एक योग्य गुरु की कृपा के बिना इसका अनुशीलन नहीं किया जा सकता। सौभाग्य से इन्हीं दिनों गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के शास्त्र-चूड़ामणि के लब्ध प्रतिष्ठ सम्मानित प्रोफेसर पं० ब्रह्मदत्त द्विवेदी के साथ मेरा परिचय हुआ जो वहाँ जिज्ञासु शिक्षकों और विद्यार्थियों को 'चित्सुखी, पढ़ा रहे थे। उन्होंने अपनी कक्षा में मुझे पढ़ने की अनुमति दे दी। पं० द्विवेदी अद्वैत वेदान्त के निष्णात विद्वान् हैं। उनके चरणों में बैठकर अद्वैत वेदान्त का अध्ययन करने में अपार आनन्द की अनुभूति होती है। लेखक उनके प्रति हृदय से आभार प्रकट करता है। उनकी कृपा के बिना पुस्तक की रचना करना असम्भव ही था। अन्त में, मैं दर्शन विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रोफेसर संगमलाल पाण्डेय के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहता हूँ जिन्होंने "अद्वैत वेदान्त" विषय के अध्यापन की अनुमति देकर मुझे उपकृत किया। उनकी अनुमति के बिना पुस्तक अपने वर्तमान स्वरूप को कभी भी प्राप्त न कर पाती।

पुस्तक यदि अपने वर्तमान रूप में विद्यार्थियों, दर्शन-प्रेमियों व समाज-सेवियों की जिज्ञासा की पूर्ति कर सकी तो लेखक अपना प्रयत्न सफल समझेगा।

जगदीश सहाय श्रीवास्तव

प्रथम संस्करण की भूमिका

भारतीय दर्शन का अनुशीलन करने वाले प्रायः दो प्रकार के मार्ग का अनुसरण करते हैं : प्रथम मार्ग संस्कृतज्ञों द्वारा दर्शाया मार्ग है जिसमें किसी दार्शनिक सिद्धान्त की व्याख्या के लिए संस्कृत श्लोकों का उद्धरण देना ही पर्याप्त समझा जाता है, उसकी तार्किक व्याख्या करने की आवश्यकता महसूस नहीं की जाती; द्वितीय मार्ग संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ विद्वानों द्वारा निरूपित मार्ग है जिसमें आधारहीन तर्कों द्वारा केवल कल्पना के घोल तैयार करने में ही दार्शनिक चिन्तन की सार्थकता समझी जाती है। 'अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका' में इन दोनों अतिवादी मार्गों से बचने की चेष्टा की गई है। चिन्तन या तर्क करना मानव स्वभाव है। जब तक कोई दार्शनिक सिद्धान्त हमारी तर्क-बुद्धि को पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं करता तब तक हम उसे कभी भी स्वीकार नहीं कर सकते। पर यह तर्क मानव अनुभूतियों पर आधारित होना चाहिए। अमर्यादित तर्क या कुतर्क द्वारा हम किसी सार्थक ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकते।

वेदों और उपनिषदों में ऋषियों और महर्षियों की दिव्य दृष्टि या तत्त्वसाक्षात्कार का ही वर्णन है। साधारण व्यक्तियों को इन्हें समझना आसान नहीं है। यही कारण है कि भाष्यकारों ने वेदों और उपनिषदों में निहित दार्शनिक विचारों के मर्म को समझकर उन्हें सबको सुलभ करने के लिए इन पर महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखे हैं। इन भाष्यकारों में स्वामी शंकराचार्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है जिन्होंने ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों एवं गीता पर प्रामाणिक भाष्य लिखकर "अद्वैतवाद" की प्रतिष्ठा की। इन भाष्यों को लिखने एवं अद्वैतवाद की स्थापना में शंकराचार्य ने तर्क का खुलकर प्रयोग किया है, पर साथ-साथ अपने तर्क की श्रुतियों एवं अनुभूतियों के साथ संगति बैठाने की भी चेष्टा की है। 'अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका' में इसी अद्वैतवाद व उसके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को तर्क के आधार पर समझाने की चेष्टा की गई है।

भारतीय दर्शन में 'श्रवण', 'मनन' और 'निदिध्यासन' को तत्त्व-ज्ञान में साधन माना गया है। गुरु से वेदों और उपनिषदों का अध्ययन करना ही 'श्रवण' है। 'श्रवण' के अनन्तर 'मनन' करना चाहिए, अर्थात् युक्तियों से ब्रह्मात्मवाद का प्रतिपादन करना चाहिए। पुनः, जब इस प्रकार की तार्किक निष्ठा उत्पन्न हो जाय तब साधक को 'निदिध्यासन' करना चाहिए। 'निदिध्यासन' का तात्पर्य ब्रह्मात्मा के स्वरूप का निरन्तर ध्यान करना है। ध्यान जितना ही दीर्घ काल तक अभ्यासपूर्वक किया जायगा, उतना ही ध्यान से आत्म-ज्ञान प्रकट होगा। निदिध्यासन को ब्रह्म-साक्षात्कार का अपरोक्ष कारण बताया गया है। बात यह है कि 'श्रवण' द्वारा जो हमें ज्ञान प्राप्त होता है, वह परोक्ष ज्ञान ही होता है। उस परोक्ष ज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान में परिणत करने के लिए मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता होती है। इसी 'मनन' को यहाँ 'तर्क' की संज्ञा दी गई है। तर्क की यही सार्थकता है।

'मनन' या 'तर्क' श्रवण और निदिध्यासन के बीच की कड़ी है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक मनन या तर्क श्रुति पर आधारित होना चाहिए। इसका दूसरा निहितार्थ यह है कि केवल तर्क से ही तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। श्रुति पर आधारित तर्क द्वारा स्थापित निष्कर्ष का जब तक हम निरन्तर ध्यान नहीं करेंगे तब तक तत्त्व-साक्षात्कार असम्भव है। इसी को स्पष्ट करने के लिए ही श्रवण-मनन-निदिध्यासन को इस क्रम में रखा गया है। यह तर्क के महत्त्व व उसकी परिधि दोनों पर अच्छा प्रकाश डालता है।

'अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका' सर्वप्रथम गोरखपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत की एम० ए० परीक्षा मे शोध-निबन्ध के रूप में प्रस्तुत की गई थी। शोधनिबन्ध संस्कृत विभाग के डॉ० हेमचन्द्र जोशी के योग्य और सफल निर्देशन में लिखा गया था। लेखक डॉ० जोशी के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते है। पर पुस्तक का वर्तमान स्वरूप उक्त शोध-निबन्ध से पर्याप्त भिन्न है। शोध-निबन्ध को पूर्णतया विस्तृत और परिवर्द्धित कर उसे दर्शनशास्त्र और संस्कृत के एम० ए० के विद्यार्थियो की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया गया है। उनकी आवश्यकताओं एवं पुस्तक की परिपूर्णता को ध्यान मे रखकर कुछ नवीन अध्यायों को भी जोड़ दिया गया है जिससे विद्यार्थियों को अद्वैत वेदान्त के विषय मे पूर्ण एवं व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त हो सके। प्रयत्न ऐसा किया गया है कि विद्यार्थियों को एक ही स्थल पर विषय के सम्बन्ध में सारी जानकारी प्राप्त हो सके जिससे उन्हें अन्य पुस्तकों के पढ़ने में व्यर्थ परिश्रम न करना पड़े। पर साथ-साथ उनकी बुद्धि एवं जिज्ञासा को कहीं भी कुण्ठित करने की चेष्टा नहीं की गई है। विषय से सम्बन्धित संस्कृत के मूल ग्रन्थों के द्वार तक पहुँचने का मार्ग खुला रखा गया है।

पुस्तक के प्रणयन में लेखक को प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र से विशेष सहायता मिली है। विषय के सम्बन्ध में लेखक को डॉ० मिश्र से कई बार विचार-विमर्श करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनके सुझावों के बिना पुस्तक की उपयोगिता में अवश्य कमी आ जाती। गोरखपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्राध्यापक डॉ० राम अवध पांडेय का भी लेखक अत्यन्त आभारी है जिन्होंने समय-समय पर अपने बहुमूल्य सुझावों द्वारा पुस्तक की उपयोगिता में वृद्धि की है।

अन्त में, मैं अपने प्रकाशक श्री इन्द्रेश कुमार अग्रवाल को धन्यवाद दिए बिना नही रह सकता जिन्होंने व्यक्तिगत रूचि लेकर इतने कम समय में पुस्तक के प्रकाशन को सम्भव बनाया। दर्शनशास्त्र की पुस्तकों के प्रकाशन से किसी प्रकाशक को उतनी व्यावसायिक सफलता नहीं प्राप्त होती जितनी इतिहास, भूगोल या समाजशास्त्र की पुस्तकों के प्रकाशन से होती है। पर फिर भी श्री अग्रवाल ने 'अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका' को प्रकाशित कर अपनी महान् उदारता का ही परिचय दिया है लेखक उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता है।

यदि पुस्तक अपने वर्तमान रूप में विद्यार्थियों, दर्शन-प्रेमियों व समाज-सेवियों की जिज्ञासा की पूर्ति कर सकी तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूँगा।

दर्शन-विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

जगदीश सहाय श्रीवास्तव

प्रथम अध्याय

शंकर-पूर्व अद्वैत वेदान्त

हम जानते हैं कि उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता को 'प्रस्थान-त्रय' कहा जाता है जिन पर बड़े-बड़े आचार्यों ने भाष्य लिखा है। जिस प्रकार महायान के विभिन्न सम्प्रदायों ने महायान सूत्रों को आगम के रूप में स्वीकार किया जिनमें भगवान बुद्ध के मूलभूत विचार संकलित हैं और जिस प्रकार उनकी शिक्षाओं को महायान दर्शन के प्रथम व्याख्याता अश्वघोष ने संक्षिप्त किया जो आगे चलकर नागार्जुन द्वारा एक पूर्ण दार्शनिक निकाय के रूप में विकसित किया गया, उसी प्रकार वेदान्ती उपनिषदों को श्रुति-रूप में स्वीकार करते हैं जिनकी प्रमुख शिक्षाओं को बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में सूत्रबद्ध किया जो आगे चलकर वेदान्त के प्रथम व्याख्याता गौडपाद द्वारा एक दार्शनिक निकाय के रूप में विकसित किया गया।

गौडपादाचार्य

जीवन-वृत्त—गौडपाद गोविन्दपाद के गुरु थे जो शंकराचार्य के गुरु रह चुके हैं। इस प्रकार गौडपाद शंकराचार्य के परमगुरु हुए। शंकराचार्य ने स्वयं माण्डूक्यकारिका के अन्तिम श्लोक के भाष्य में लिखा है :

"यस्तं पूज्याभिपूज्यं परमगुरुममुं पादपातैर्नतोऽस्मि", अर्थात् "उन पूज्यों के भी पूज्य परमगुरु श्री आचार्य गौडपाद को उनके चरणों में पड़कर मैं नमस्कार करता हूँ।"[1] शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य में लिखा है कि गौडपादाचार्य के विषय में सभी सहमत हैं कि वे वेदान्त-सम्प्रदाय के बिलकुल भिज्ञ हैं।[2] शंकराचार्य के योग्य शिष्य सुरेश्वराचार्य ने भी गौडपाद को एक पूज्य गुरु के रूप में स्वीकार किया है।[3]

गौडपाद के दर्शन की विधि माध्यमिकों जैसी है, पर उनकी विषय-सामग्री विज्ञानवादियों जैसी है। इससे पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने यह निष्कर्ष निकालने की चेष्टा की है कि गौडपाद प्रच्छन्न बौद्ध हैं। पर बात ऐसी नहीं है। गौडपाद एवं नागार्जुन और वसुबन्धु के दर्शनों में जो साम्य पाया जाता है, उसका कारण यह है कि इन तीनों ने

---

1. माण्डूक्यकारिका भाष्य : अन्तिम श्लोक।
2. शारीरक भाष्य 2,1,9 "अत्रोक्तं वेदान्तसम्प्रदायविद्भिराचार्यैः। सम्प्रदायविदो वदन्ति"।
3. नैष्कर्म्यसिद्धिः IV, 44 "एवं गौडैर्द्राविडैनैः पूज्यैरर्थः प्रभाषितः।"

अपने-अपने दर्शनों के लिए उपनिषदों की सहायता ली है। अतः गौडपाद को प्रच्छन्न बौद्ध मानने की अपेक्षा यदि हम नागार्जुन और वसुबन्धु को ही प्रच्छन्न वेदान्ती मानें, तो यह सत्य के अधिक निकट होगा।

गौडपाद के दर्शन के दो प्रमुख उद्देश्य थे : प्रथम उपनिषद् के अनुयायियों को वेदान्तदर्शन का औचित्य दिखलाना एवं द्वितीय बौद्धों में वेदान्त का प्रचार करना। अपने उदार विचारों के कारण गौडपाद ने दोनों दर्शनों के सम्मिश्रण द्वारा अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली।

रचनाएँ—माण्डूक्योपनिषद् पर गौडपाद द्वारा रची हुई माण्डूक्यकारिकाएँ अद्वैत वेदान्त की आधारशिला मानी गई हैं। इस ग्रन्थ को आगम-शास्त्र, माण्डूक्यवार्तिक और वेदान्तमूल इत्यादि अनेक नामों द्वारा अभिहित किया जाता है। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका पर भी एक गौडपाद-रचित भाष्य है। इसी प्रकार उत्तरतापिनी उपनिषद् की व्याख्या, दुर्गासप्तशती की व्याख्या सुभगोदय, श्री विद्यारत्नसूत्र आदि कुछ तान्त्रिक ग्रन्थ भी गौडपादाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। यहाँ यह निश्चय करना कठिन है कि इन सभी रचनाओं के रचयिता एक गौडपाद हैं या विभिन्न। कुछ भी हो, यहाँ हमारा तात्पर्य माण्डूक्यकारिका के निर्माता गौडपादाचार्य से है। उन्हें ही नयनप्रसादिनीकार ने सम्प्रदायवित् कहा है।

माण्डूक्य उपनिषद् अथर्ववेदीय ब्राह्मण भाग का अंश है। इसी माण्डूक्य उपनिषद में **"अयमात्मा ब्रह्म"** महावाक्य प्राप्त होता है। इसी माण्डूक्य उपनिषद पर गौडपादाचार्य ने अपनी कारिकाएँ लिखी हैं। सभी कारिकाएँ चार प्रकरणों में विभक्त हैं—

(1) आगम प्रकरण	—	29 श्लोक
(2) वैतथ्य प्रकरण	—	38 श्लोक
(3) अद्वैत प्रकरण	—	48 श्लोक
(4) अलातशान्ति प्रकरण	—	100 श्लोक

माण्डूक्यकारिका के सम्बंध में दो विभिन्न मत प्रचलित हैं। कुछ विद्वान सम्पूर्ण माण्डूक्यकारिका को एक ही ग्रन्थ मानते हैं जिसके चार महत्त्वपूर्ण भाग हैं। किन्तु पं० विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार उपर्युक्त चार प्रकरण एक ही पुस्तक के भाग नहीं हैं, वरन् वे चार स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका कथन है कि मध्वाचार्य ने केवल प्रथम प्रकरण को ही श्रुति मानकर उस पर भाष्य लिखा है। शेष तीन प्रकरणों पर उन्होंने भाष्य नहीं लिखा है। इससे स्पष्ट है कि सभी प्रकरण एक ही ग्रन्थ के अनुभाग नहीं हैं। पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि माण्डूक्यकारिका एक पूर्ण ग्रन्थ नहीं है। हो सकता है कि शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्य ने जो मध्वाचार्य के बहुत पहले हो गए थे, वे माण्डूक्यकारिका को श्रुति न मानते हों। इसी कारण आचार्यों ने उन पर भाष्य न लिखा

हो। हम मध्वाचार्य के विचारों को मानने के लिए बाध्य नहीं हैं।

प्रकरणों के प्रतिपाद्य विषय

माण्डूक्यकारिका के जिन चार प्रकरणों का पहले उल्लेख किया गया, अब हम उनके प्रतिपाद्य विषयों का वर्णन करेंगे—

1. **आगम प्रकरण**—प्रथम प्रकरण का नाम आगम प्रकरण है। इस प्रकरण में माण्डूक्योपनिषद् की व्याख्या के अतिरिक्त ऊँकार की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। 'ऊँकार' शब्द अ+उ + म् से निर्मित है। इसमें चैतन्य की चार अवस्थाओं, उनके शरीर तथा आत्मा और ब्रह्म के विभिन्न रूपों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

अवस्था	शरीर	आत्मा का रूप	ब्रह्म का रूप
1. जागृत	स्थूल	विश्व	वैश्वानर
2. स्वप्न	सूक्ष्म	तैजस	हिरण्यगर्भ
3. सुषुप्ति	कारण	प्राज्ञ	ईश्वर
4. तुरीय	×	तुरीय	ब्रह्म

परम ब्रह्म का ज्ञान केवल तुरीयावस्था में ही प्राप्त हो सकता है। गौडपाद कहते हैं, "अनादि माया के प्रभाव से सोया हुआ जीव जब जागता है, तब वह अजन्मा, निद्रारहित, स्वप्नरहित अद्वैत तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है"।[4] इसी प्रकरण में जगत् की उत्पत्ति के विषय में विविध दार्शनिक विचारों का संकलन कर उनका खण्डन भी किया गया है। गौडपादाचार्य के अनुसार भगवान के लिए सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं है। सृष्टि उसका स्वभाव है। सृष्टि की रचना स्वप्नवत् बताई गई है। यहाँ माया शब्द का भी प्रयोग किया गया है। "संसार में जो द्वैत या नानात्व है, वह मायाजन्य है, परमार्थतः केवल अद्वैत ही एक मात्र सत्य है।"[5] इस प्रकार, इस प्रकरण में जीव और ब्रह्म की एकता तथा प्रपञ्च का मायामयत्व प्रतिपादित किया गया है।

2. **वैतथ्य प्रकरण**—इसमें संसार की वस्तुओं की अयथार्थता या वैतथ्य प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकारण में सांसारिक वस्तुओं का स्वप्न-दृश्य के समान मिथ्यात्व

---

4. माण्डूक्यकारिका, 1/16
   अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
   अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥
5. वही, 1/17—मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।

दिखाया गया है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में चित्त में कल्पना किए गए पदार्थ बाहर देखे जाते हैं और असत्य होते हैं, उसी प्रकार जागृतावस्था में भी मानसिक और इन्द्रियग्राह्य दोनों ही पदार्थ असत्य हैं। माया के कारण आत्मदेव अव्यक्त वासना रूप से स्थित भेद-समूह को व्यक्त करता है।[6]

3. **अद्वैत-प्रकरण**—इसमें उत्पत्ति से पूर्व सम्पूर्ण जगत् को अजन्मा ब्रह्म बताया गया है। यहाँ ब्रह्म से पृथक् किसी जीवात्मा या जगत् के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। इसी प्रकरण में अजातिवाद का समर्थन करते हुए चित्त की विशेष स्थिति को ब्रह्म कहकर उसकी प्रशंसा की गई है। आत्म-तत्त्व की अनुत्पत्ति को दिखाकर उसके अभेददृष्टि की प्रशंसा और भेद-दृष्टि की निन्दा की गई है। इसमें आत्मा का वर्णन इस प्रकार किया गया है: "वह आत्मा अजन्मा, अज्ञानरूप निद्रा से रहित, स्वप्न से शून्य, नाम-रूप से रहित और नित्य प्रकाश रूप होने से ज्ञान-स्वरूप है। ऐसी आत्मा में कोई उपचार (व्यापार) सम्भव नहीं है।"[7] गौडपादाचार्य के अनुसार साधन करते-करते जब चित्त निरुद्ध हो जाता है तो बोध का उदय होता है। अन्त में जीव का वास्तविक स्वरूप दिखाकर प्रकरण की समाप्ति की जाती है। वे कहते हैं, "कोई जीवन जन्मग्रहण नहीं करता क्योंकि उसका कोई कारण नही है। कहीं किसी का जन्म न होने की जो स्थिति है, वही उत्तम स्थिति है।"[8]

4. **अलातशान्ति प्रकरण**—यह अन्तिम प्रकरण सबसे बड़ा प्रकरण है। इसमें एक सौ श्लोक दिए गए हैं। इस प्रकरण में सद्वाद, असद्वाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि मतों का खण्डन प्रस्तुत किया गया है। इन मतों का खण्डन करने के बाद "अजातिवाद" की स्थापना की गई है। गौडपाद की ख्याति इसी सिद्धान्त के आधार पर हुई है। **"अलात"** शब्द का अर्थ उल्का या मशाल है। जिस प्रकार उल्का-चक्र अपने स्पन्दन स नाना प्रकार की आकृतियों को जन्म देता है, उसी प्रकार विज्ञान अपने स्पन्दन से सृष्टि की नाना प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार अलात-चक्र के स्पन्दन की शान्ति होने पर

---

6. माण्डूक्यकारिका, 2/31
   स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
   तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥
7. वही, 3/36
   अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम्।
   सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन॥
8. माण्डूक्यकारिका, 3/48
   न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते।
   एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते॥

नाना प्रकार की आकृतियों का शमन हो जाता है, उसी प्रकार विज्ञान-स्पन्दन के निरोध से सृष्टि का भी शमन हो जाता है। यही अलात-शान्ति प्रकरण का उद्देश्य है।

प्रथम : आगम प्रकरण

अजातिवाद

दर्शनशास्त्र में जगत् या सृष्टि के सम्बन्ध में तीन प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित हैं—

1. **अजातिवाद**—जगत् न कभी था, न है और न होगा। जगत् की सत्ता या स्वरूप बिलकुल अलीक है।

2. **दृष्टिसृष्टिवाद**—दृष्टि के क्षण ही सृष्टि होती है। दृष्टि हटा लेने पर सृष्टि समाप्त हो जाती है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में बर्कले का "सत्यता दृष्टता है" (Esse est percipi) सिद्धान्त इससे पर्याप्त मिलता-जुलता है। इसमें जगत् को **'प्रातिभासिक'** माना जाता है। स्वप्न दृष्टिसृष्टिवाद का एक उत्तम उदाहरण है। समकालीन पाश्चात्य दर्शन की भाषा में इसे "प्रत्यक्ष का क्रियाविशेषण सिद्धान्त" (Adverbial Theory of Perception) कहते हैं।

3. **सृष्टिदृष्टिवाद**—इस सिद्धान्त के अनुसार जगत् मनुष्यसृष्ट न होकर ईश्वरसृष्ट है। ईश्वर प्रथम जगत् की सृष्टि करता है और उसके बाद हम उस पर दृष्टि डालते हैं। पाश्चात्य दर्शन की भाषा में इसे 'वस्तुनिष्ठ विज्ञानवाद' (Objective Idealism) की संज्ञा दी जाती है।

पर यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि उपर्युक्त दृष्टिकोणों में ऊपर से देखने पर भले ही विरोध दिखाई पड़ रहा हो, पर मूलतः उनमें कोई विरोध नहीं है। तीनों सिद्धान्तों के अनुसार भ्रम-वस्तु न तो पहले थी, न अब है और न भविष्य में ही रहेगी। तीनों काल में यह बिलकुल असत् है।

अजातिवाद का इतिहास

अजातिवाद कोई नया सिद्धान्त नहीं है। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने अपने मूलमाध्यमिककारिका में अजातिवाद को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—"किसी वस्तु की उत्पत्ति न तो स्वयं से, न तो किसी अन्य वस्तु से, न तो दोनों से और न तो दोनों के निषेध से ही हो सकती है।"[9] वस्तु की उत्पत्ति बिलकुल असम्भव है। अपनी बात को और

---

9. मूलमाध्यमिककारिका 1/3
न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥

अधिक पुष्ट करने के लिए आगे चलकर नागार्जुन ने ही कहा है "जो आदि में नहीं है और न अन्त में है, वह मध्य में किस प्रकार हो सकता है ?"[10]

वास्तव में बौद्ध दर्शन में अजातिवाद की उत्पत्ति प्रतीत्यसमुत्पादवाद से हुई है। प्रतीति+असमुत्पादः = प्रतीत्यसमुत्पादः। अर्थात् इसके अनुसार ऐसी प्रतीति होती है कि उत्पत्ति हो रही है, पर वास्तव में कोई उत्पत्ति नहीं होती। एक दूसरी व्याख्या के अनुसार प्रतीत्य+समुत्पादः = प्रतीत्यसमुत्पादः। अर्थात् पिछले क्षण के नष्ट हो जाने पर दूसरे क्षण की उत्पत्ति होती है जो बिलकुल असम्भव है। अतः, बौद्ध दर्शन में अजातिवाद का एक मान्य सिद्धान्त रहा है।

मुण्डकोपनिषद् में भी अजातिवाद की प्रतिष्ठा की गई है। तत्त्व के विषय में कहा गया है, "वह बाहर और भीतर दोनों ओर से अज है"[11] योगवासिष्ठ में भी कई स्थलों पर अजातिवाद के विषय में उद्धरण मिलता है। "जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ है, न था और न होगा ही"[12] एक अन्य स्थल पर वसिष्ठ राम से कहते है, "राम ! जगत् न था, न है और न होगा।"[13] माण्डूक्यकारिका का तो अजातिवाद प्रमुख सिद्धान्त ही है। उसमें स्पष्ट लिखा है, "जो वस्तु आदि और अन्त में असद् है, वह वर्तमान में भी असद् ही मानी जाती है। मृगतृष्णा असद् वस्तुओं के समान होते हुए भी अज्ञानियों द्वारा सद्रूप ही समझी जाती है।"

अजातिवाद की तार्किक व्याख्या

1. माण्डूक्यकारिका में गौडपाद ने तर्क के आधार पर अजातिवाद को सिद्ध करने की चेष्टा की है। उनके अनुसार नैयायिक सांख्य के "सत्कार्यवाद का खण्डन करते हैं और सांख्यवादी न्याय के "असत्कार्यवाद" का खण्डन करते हैं। इस पारस्परिक खण्डन के द्वारा वे अजातिवाद का ही उद्घोष करते हैं। "कोई भी विद्यमान वस्तु इसलिए उत्पन्न नहीं होती क्योंकि वह आत्मा के समान पहले से ही विद्यमान है। इस प्रकार असत्कार्यवादी नैयायिक सत्कार्यवादी सांख्य पक्ष का खण्डन करता है। उसी प्रकार शशशृंग के समान अविद्यमान वस्तु का जन्म नहीं होता क्योंकि वह सदा अविद्यमान ही है। ऐसा कहते हुए

10. वही, 11/2
नैवाग्रं नावरं यस्य तस्य मध्यं कुतो भवेत्।
तस्मान्नात्रोपपद्यन्ते पूर्वापर सहक्रमाः॥
11. मुण्डकोपनिषद् 2, 1, 2—स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
12. योगवासिष्ठ, 3, 7, 40—जगन्नाम्ना न।
13. वही, 4, 2, 8—तस्माद् राम जगन्नासीन्न चास्ति न भविष्यति।

सत्कार्यवादी सांख्य असत्कार्यवादी वैशेषिक पक्ष का खण्डन करते हैं। इस प्रकार वे परस्पर विरुद्ध बोलते हुए अजातिवाद को ही प्रकाशित करते हैं।[14]

2. दूसरा जो महत्त्वपूर्ण तर्क गौडपाद ने अजातिवाद को सिद्ध करने के लिए दिया है, वह यह है कि "अपने से या दूसरे से या दोनों से सत्, असत् और सदसद् उभयरूप वाली कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती।"[15] न घट से वही घट उत्पन्न हो सकता है और न घट से पट ही उत्पन्न हो सकता है। यदि कोई कहे कि मिट्टी से घट और पिता से पुत्र उत्पन्न होता देखा गया है तो इसके उत्तर में वे कहते हैं : 'उत्पन्न' होने की बात (शब्द और प्रत्यय) केवल अविवेकियों को ही प्रतीत होती है, विवेकियों को नहीं। श्रुति कहती है, "शब्द और प्रत्यय के विषय घटपुत्रादि रूप वस्तु शब्द मात्र ही हैं, वास्तव में मिट्टी या पिता ही एक मात्र सत्य है।"[16] इसके अतिरिक्त जिन बौद्धों के मत में "जनि" क्रिया ही उत्पन्न होती है और इस प्रकार क्रिया, कारक और फल का एकत्व तथा वस्तु में क्षणिकत्व है, उनका मत ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि "यह ऐसा है" इस प्रकार का निश्चय पदार्थ की स्थिति न रहने के कारण असम्भव ही है।

3. कुछ लोग यह कहते हैं कि संसार में हमें हेतु-फल का प्रतिदिन प्रत्यक्ष होता है। हम संसार में विभिन्न हेतुओं से फल की उत्पत्ति होते हुए देखते हैं। ऐसी स्थिति में हम कैसे कह सकते हैं कि संसार अजातिवाद से शासित है। इसके उत्तर में गौडपाद कहते हैं कि हेतु और फल के "अनादित्व" से इन दोनों की अनुत्पत्ति माननी पड़ेगी। कारणरहित पदार्थ का जन्म होते नहीं देखा गया है। आदि रहित फल से हेतु उत्पन्न नहीं होता। जिसका कभी जन्म नहीं हुआ, ऐसे अनादि फल-रूप शरीर से धर्माधर्म-रूप हेतु का जन्म अभीष्ट नहीं हो सकता। न तो ऐसा ही हो सकता है कि आदि रहित अजन्मा हेतु से बिना किसी निमित्त के ही स्वभाव से फल उत्पन्न हो जाता है। अत: हेतु और फल का अनादित्व मानने वाले को उनकी अनुत्पत्ति माननी ही पड़ेगी। लोक में जिसका कारण नहीं होता,

---

14. माण्डूक्यकारिका, 4/4
भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवम् अजातिं ख्यापयन्ति ते॥

15. माण्डूक्यकारिका, 4/22
स्वतो वा परतो वाऽपि न किञ्चिद्वस्तु जायते।
सदसत्सदसद्वाऽपि न किञ्चिद्वस्तु जायते॥

16. छान्दोग्य उप० 6, 1, 4—"वाचाऽऽरम्भणम् विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्"।

उसका जन्म भी नहीं होता।[17] कारण वाले पदार्थ का ही जन्म होते देखा गया है।

4. सांख्य दर्शन के अनुसार कारण और कार्य में तादात्म्य-सम्बन्ध पाया जाता है। साथ-साथ यह भी कहते हैं कि प्रधान या प्रकृति से महत्, अहंकार और मन इत्यादि उत्पन्न होते हैं। पर सांख्य के इस सिद्धान्त में कई तार्किक दोष दिखाई पड़ते हैं। यदि अजन्मा प्रकृति से परिणाम द्वारा अन्य तत्त्व उत्पन्न होते हैं और कारण-कार्य में तादात्म्य पाया जाता है तो इसका परिणाम यह होगा कि कारण कार्य के समान अनित्य व कार्य कारण के समान नित्य हो जायगा जिसे सांख्य भी स्वीकार नहीं कर सकता। गौडपाद कहते है, "जिसके मत में कारण ही कार्य है, उसमें कारणरूपा प्रकृति अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करती है। ऐसी स्थिति में जन्म लेने वाला अज कैसे होगा और विकास वाला नित्य कैसे कहा जायगा ?"[18]

उपर्युक्त श्लोक पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि यदि नित्य कारण अनित्य कार्य को उत्पन्न करता है तो यह उसी प्रकार असम्भव हैं जिस प्रकार मुर्गी का एक भाग पकाया जाय और दूसरा भाग अण्डे देने के लिए सुरक्षित रखा जाय।[19]

5. जिस वादी के अनुसार अजन्मा वस्तु कार्य को उत्पन्न करती है, निश्चित रूप में उसके मत में तदनुरूप दृष्टान्त नहीं मिलता। इसके विपरीत, यदि किसी उत्पन्न होने वाली वस्तु से कार्य की उत्पत्ति मानी जायगी तो इससे हमारे चिन्तन में अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी क्योंकि एक उत्पन्न वस्तु दूसरी उत्पन्न वस्तु के ऊपर, दूसरी उत्पन्न वस्तु तीसरी उत्पन्न के ऊपर आश्रित होगी। इस प्रकार उसके भीतर अनवस्था दोष की प्राप्ति का प्रसंग अवश्य उपस्थित हो जायगा।[20]

---

17. माण्डूक्यकारिका, 4/23
हेतुर्न जायतेऽनादेः फलं, चापि स्वभावतः।
आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते॥
18. माण्डूक्यकारिका, 4/12
कारणाद्यनन्यत्वमतः कार्यमजं यदि।
जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणं ते कथं ध्रुवम्॥
19. उक्त श्लोक 4/12 पर शंकर भाष्य, नहि कुक्कुटया एकदेशः पच्यत एकदेशः प्रसवाय कल्प्यते॥
20. माण्डूक्यकारिका, 4/13
अजाद्वै जायते यस्य, दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै।
जाताश्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते॥

6. यदि संसार की वस्तुओं को हेतु-फल की शृंखला में आबद्ध कर दिया जाय तो हमारे समक्ष दो प्रकार के विकल्प उपस्थित होंगे : प्रथम विकल्प में हेतु-फल के बीच पौर्वापर्य सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी, अथवा दोनों को युगपद मानना पड़ेगा।

(i) यदि दोनों के बीच पौर्वापर्य सम्बन्ध मान लिया जाय तो इसका अनुसंधान करना कठिन है कि कौन पहले आता है और कौन बाद में आता है। जिस प्रकार बीज-वृक्ष के बीच निश्चय करना कठिन है कि बीज पहले आता है कि वृक्ष, उसी प्रकार हेतु-फल के बीच भी पूर्वापर-क्रम का निर्णय करना कठिन है।[21]

(ii) यदि यह कहा जाय कि हेतु फल पर आश्रित है और फल हेतु पर आश्रित है तो इसका परिणाम यह होगा कि पिता पुत्र को उत्पन्न करता है और पुत्र पिता को उत्पन्न करता है जो असम्भव है।[22]

(iii) यदि यह कहा जाय कि हेतु-फल युगपद होते हैं तो ऐसा असम्भव है क्योंकि ऐसा होने पर एक बैल की दो सींगों के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी।[23]

7. अजातिवाद को सिद्ध करने के लिए गौडपाद ने एक तार्किक आधार भी प्रस्तुत किया है। प्राय: कार्य-कारण के सम्बन्ध में चार प्रकार के मत प्रतिपादित किए जाते हैं :

(i) असत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति।

(ii) असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति।

(iii) सत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति।

(iv) सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति।

(i) प्रथम विकल्प युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि शशशृंग से आकाश-कुसुम की उत्पत्ति कहीं भी दिखाई नहीं देती।

---

21. माण्डूक्यकारिका, 4/18
यदि हेतो: फलात्सिद्धि: फलसिद्धिश्च हेतुत:।
कतरत्पूर्व निष्पन्नं यस्य सिद्धिरपेक्षया॥

22. वही, 4/15
हेतोरादि: फलं येषामादिर्हेतु: फलस्य च।
तथा जन्म भवेत्तेषां पुत्राज्जन्म पितुर्यथा॥

23. वही, 4/16
संभवे हेतुफलोरेषितव्य: क्रमस्त्वया।
युगपत्संभवे यस्माद् सम्बन्धो विषाणवत्॥

(ii) असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति भी असम्भव है क्योंकि शशशृंग से घटादि की उत्पत्ति असम्भव है।

(iii) सत् कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति भी असम्भव है क्योंकि जो पहले से ही सत् है, उसकी उत्पत्ति का कोई प्रयोजन ही नहीं है।

(iv) सत् कारण का कार्य असत् भी नहीं है क्योंकि भाव से अभाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

अतः, विवेकियों ने निश्चित किया है कि किसी भी वस्तु का कारण-कार्यभाव निश्चित नहीं है।[24]

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर गौडपाद निष्कर्ष निकालते हैं कि यदि कारण-कार्य के पौर्वापर्य का हमें ज्ञान नहीं है तो यह हमारी सबसे बड़ी दुर्बलता है। इससे क्रम का भी कोप अर्थात् क्रम का अन्यथाभाव उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में हम कैसे कह सकते हैं कि कारण पूर्ववर्ती है और कार्य परवर्ती है जो कारणता के लिए अत्यावश्यक है। उपर्युक्त तर्कों के आधार पर गौडपाद अजातिवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए विवश हो जाते हैं।[25]

आत्मा

माण्डूक्यकारिका के प्रथम प्रकरण में अ+उ+म् के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञ नामक आत्मा के तीन पादों का वर्णन किया गया है। चौथा पाद तुरीय आत्मा है।

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को ही एक मात्र तत्त्व माना गया है। "परोक्ष" ब्रह्म का "अपरोक्ष" आत्मा के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित किया गया है। ब्रह्म हर प्रकार के द्वैत से अतीत है। किन्तु अद्वैत ब्रह्म अपनी माया शक्ति के द्वारा जीवात्मा और जगत् को उत्पन्न करता है। जीवात्माएँ एवं जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। अतः, उनके भीतर

---

24. माण्डूक्यकारिका, 4/40
नास्त्यसद्धेतुकमसत्सदसद्धेतुकं तथा।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत्कुतः॥
25. माण्डूक्यकारिका, 4/19
अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपोऽथवा पुनः।
एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता॥

भी किसी न किसी रूप में ब्रह्म उपस्थित रहता है। जीवात्मा ज्ञाता है और जगत् ज्ञेय है। ज्ञाता और ज्ञेय परस्पर सापेक्ष सत्ताएँ हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती।

माण्डूक्यकारिका में आत्मा के चार पादों का वर्णन किया गया है। "पाद" शब्द का अर्थ है : "पद्यते गम्यते अनेन इति पादः" अर्थात् जिससे या जिस पैर से आत्मा गमन करती है, उसे पाद कहते हैं। प्रथम गौडपाद आत्मा के तीन पादों का विवरण प्रस्तुत करते हैं, "व्यापक विश्व बहिष्प्रज्ञ है, तैजस अन्तःप्रज्ञ है, प्राज्ञ प्रज्ञान घन है। इस प्रकार एक ही आत्मा का तीन प्रकार वर्णन किया जाता है।"[26]

अब हम आत्मा के उपर्युक्त तीन पादों का पृथक्-पृथक् वर्णन करेंगे।

1. **विश्व**—आत्मा का यह प्रथम पाद है। विश्वात्मा जागृत अवस्था के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। बाह्य विषयों का प्रकाशक होने के कारण इसे **"बहिष्प्रज्ञ"** कहा जाता है। यह सात अंग वाला, उन्नीस मुखवाला तथा स्थूलविषयों का उपभोक्ता है। वह वैश्वानर आत्मा का प्रथम पाद है।[27] अपने से भिन्न बाह्य विषयों में जिसकी प्रज्ञा हो, उसे बहिष्प्रज्ञ कहते हैं। अर्थात् जो अविद्याकृत बाह्य विषयों से सम्बन्ध रखने वाला हो, वह बहिष्प्रज्ञ है। इसके सात अंग हैं : द्युलोक शिर है, सूर्य उसका नेत्र है, वायु उसका प्राण है, आकाश उसका धड़ है, जल ही मूत्रस्थान है और पृथ्वी उसके पैर हैं। आह्वनीय अग्नि उसका मुख है। इसी प्रकार विश्वात्मा के उन्नीस मुख हैं : पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। ये मुख बाह्य विषयों की उपलब्धि के साधन हैं। ऐसे विशेषणों से विशिष्ट वह वैश्वानर आत्मा पूर्वोक्त साधनों से शब्दादि स्थूल विषयों का भोग करता है। इसीलिए वह **स्थूलभुक्** कहा गया है। सम्पूर्ण नरों को अनेक प्रकार की योनियों में ले जाने के कारण वह **वैश्वानर** कहा गया है अथवा सभी नरों के साथ तादात्म्य-भाव रखता हुआ वह सर्वनरस्वरूप है। विश्वात्मा **अन्यथाग्रहण** करता है जिसे विक्षेप कहा जाता है।

---

26. माण्डूक्यकारिका, 1/1
बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तः प्रज्ञस्तुतैजसः।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः॥
27. माण्डूक्य उपनिषद्, 3—जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः॥

2. **तैजस**—तैजस आत्मा **स्वप्नावस्था** के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। माण्डूक्योपनिषद् में इसे निम्न प्रकार परिभाषित किया गया है : "जिसका अभिव्यक्ति-स्थान स्वप्न है, जो केवल मनरूपी अन्तःप्रज्ञ वाला है एवं पूर्ववत् सात अंगोवाला, उन्नीस मुख वाला और सूक्ष्म विषयों को भोगने वाला है, ऐसा तैजस ही आत्मा का द्वितीय पाद है।"[28] यह **स्वप्नावस्था** के माध्यम से अभिव्यक्त होता है एवं आन्तरिक विषयों का प्रकाशक होने के कारण **अन्तःप्रज्ञ** कहा जाता है। हम जानते हैं कि जागृत काल में प्रज्ञा अनेक साधनों वाली मनःस्पन्दन होती हुई भी बाह्य विषयों से सम्बद्ध हुई सी प्रतीत होती है और वह सभी प्रकार के संस्कार को मन पर डालती है। तैजस बाह्य साधनों की कुछ भी अपेक्षा न कर अविद्या, काम और कर्म से प्रेरित हुआ जागृत के समान भासता है। इस स्वप्नावस्था में स्वयंप्रकाश स्वप्नद्रष्टा अपनी **विभूति** का अनुभव करता है। विषयशून्य के प्रकाशरूप प्रज्ञा में विषयी होने से यह तैजस कहा गया है।[29] जिस प्रकार विश्वात्मा स्थूल वस्तुओं को उपभोग करता है, उसी प्रकार तैजस **सूक्ष्म वस्तुओं** का उपभोग करता है। तात्पर्य यह है कि भोज्यत्व दोनों अवस्थाओं में समान रहने पर भी एक में स्थूल विषय है तो दूसरे में विषय-संस्पर्श से शून्य वासनामात्र प्रज्ञा ही भोग्य है। तैजस का वैश्विक रूप **हिरण्यगर्भ** माना जाता है। स्वप्नावस्था में तैजस **अन्यथाग्रहण** करता है जिसे विक्षेप कहा जाता है। तैजस आत्मा का द्वितीय पाद है।

3. **प्राज्ञ**—प्राज्ञ आत्मा का तृतीय पाद है। माण्डूक्योपनिषद् में प्राज्ञ को निम्न प्रकार परिभाषित करने की चेष्टा की गई है : "जिस स्थान या काल में सोया हुआ पुरुष न तो किसी विषय-भोग की कामना करता है और न किसी स्वप्न को ही देखता है, उसे ही सुषुप्ति कहते हैं। यह सुषुप्ति ही जिसका स्थान है तथा जो एकीभूत हो उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप होता हुआ ही आनन्दमय है और आनन्द का भोक्ता तथा चेतनारूप मुखवाला है, वही तीसरा पाद प्राज्ञ है।"[30] चैतन्य की जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में एक बात की समानता है और वह यह है कि तीनों में **तत्त्वज्ञान का अभाव** पाया जाता है क्योंकि तीनों अवस्थाएँ अविद्यामय हैं। प्राज्ञ **सुषुप्ति** के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त

---

28. माण्डूक्योपनिषद्, 4—स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्त भुक्तैजसो द्वितीयः पादः ॥
29. विषयशून्यायां प्रज्ञायां केवल प्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन भवतीति तैजसः ॥
30. माण्डूक्यपोपनिषद्, 5—यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञान घन एवाऽऽनन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतो मुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥

करता है। इसीलिए इसे **घनप्रज्ञ** कहा जाता है। विश्व स्थूल वस्तुओं का उपभोग करता है; तैजस सूक्ष्म वस्तुओं का उपभोग करता है, पर प्राज्ञ **आनन्द** का उपभोग करता है। जिस प्रकार दिन के समस्त पदार्थ अपना रूप त्याग किए बिना ही रात्रि के अन्धकार में एकीभूत हुए दीखते हैं, उसी प्रकार मनःस्फुरण से उत्पन्न जागृत और स्वप्न के सभी द्वैत प्रपञ्च अपने कारण **अज्ञान** में लीन हो जाते हैं। स्वप्न और जागृत के ये मनःस्फुरण-रूप प्रज्ञान घन जब घनीभूत हो जाते हैं तो यह अवस्था अविवेक रूप होने के कारण प्रज्ञान घन शब्द से कही जाती है। अन्य अवस्थाओं में विषय-विषयी आकार रूप से मन का स्पन्दन हो रहा था, इसीलिए उस आयास से वहाँ दुःख भी प्रतीत होता था। इस सुषुप्तावस्था में उस आयास-रूप दुःख का अभाव होने के कारण यह आनन्दमय हो जाता है। इसीलिए इसे **आनन्दभुक्** कहते हैं। पर यह अभावात्मक आनन्द है, भावात्मक आनन्द नहीं है क्योंकि यह भी अज्ञान की एक अवस्था ही है। जागृत व स्वप्न की अवस्था में हम तत्त्व का अन्यथाग्रहण या विपरीत ग्रहण करते हैं, किन्तु सुषुप्ति की अवस्था में हम तत्त्व का **अग्रहण** करते हैं। **प्रज्ञप्तिमात्र** इसी का असाधारण रूप है।[31] प्रकृष्ट प्रज्ञा वाले को ही प्राज्ञ कहा जाता है।[32]

इसी प्राज्ञ आत्मा का वैश्विक रूप **ईश्वर** है। अपने स्वरूप में स्थित यह प्राज्ञ ही अधिदैव के सहित सम्पूर्ण द्वैत प्रपञ्च का शासक होने से सर्वेश्वर है। अन्य मतावलम्बियों की तरह इस प्राज्ञ से भिन्न शासक ईश्वर को वेदान्त में नहीं माना जाता है क्योंकि वेदान्त में न्याय जैसे तटस्थ ईश्वर को नहीं माना जाता। प्राज्ञ **सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी** और सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति और लय का एकमात्र स्थान होने के कारण वह सबका कारण भी है।[33] **आत्मा तीन नहीं है।**

उपर्युक्त आत्मा के जिन पादों के विषय में वर्णन किया गया है, वे तीन न होकर एक ही आत्मा के तीन रूप हैं। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति जो चैतन्य की तीन अवस्थाएँ हैं, उनमें एक ही आत्मा वर्तमान रहती है। "मैं वही हूँ जो पहले सोया और स्वप्न देखा" ऐसी प्रत्यभिज्ञा एवं प्रतिसन्धान होने से यही मानना पड़ेगा कि आत्मा तीनों स्थानों से भिन्न एक शुद्ध और असंग वस्तु है। जिस प्रकार किसी नदी में रहने वाला बलवान मत्स्य नदी के प्रबल वेग से न विचलित होता हुआ नदी के दोनों तटों पर संचरण करता है, अतः वह दोनों तटों से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार यह आत्मा क्रमशः तीनों स्थानों में आता जाता रहता

---

31. प्रज्ञप्तिमात्रमस्यैवासाधारणं रूपमिति प्राज्ञः।
32. प्रकृष्टा प्रज्ञा, प्रज्ञा एवं प्राज्ञः।
33. माण्डू० उप० 6—एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोः अन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥

है, अत: वह स्थानत्रय से भिन्न एक असंग और शुद्ध है। ऐसा बृहदारण्यक उपनिषद् का **"महामत्स्य"** वाला दृष्टान्त सुप्रसिद्ध है। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि सुषुप्ति से जगा हुआ व्यक्ति कहता है कि "मैंने कुछ भी नहीं जाना" **(न किञ्चिदवेदिषम्)** ।

(4) **तुरीय**—यह आत्मा का अन्तिम चतुर्थ विशुद्ध रूप है। शब्द प्रवृत्ति के जाति, गुण क्रिया, सम्बंध, रूप सभी निमित्त से शून्य होने के कारण यह तुरीय आत्मा शब्द-शक्ति का विषय नहीं है। अत: विधि मुख से वर्णन अशक्य होने के कारण सभी भावों का निषेध करके ही श्रुति तुरीय के स्वरूप का वर्णन करना चाहती है।

तो क्या तुरीय तत्त्व को बिलकुल **शून्य** माना जाय? शंकराचार्य कहते हैं कि ऐसा सोचना ठीक नहीं है क्योंकि बिना निमित्त के मिथ्या विकल्प की सिद्धि नहीं हो सकती।[34] लोक में शुक्ति के बिना रजत की, रज्जु के बिना सर्प की ठूँठ के बिना पुरुष की तथा ऊसर भूमि के अधिष्ठान के बिना मृगतृष्णा विकल्प को बताना सर्वथा असम्भव है।

तुरीय आत्मा जाति, गुण और क्रिया सम्बंध से रहित होने के कारण उसका भावात्मक रूप में वर्णन नहीं किया जा सकता—

(i) आत्मा के **अद्वितीय** होने के कारण उसमें **सामान्य-विशेष** भाव नहीं है।[35]

(ii) **निर्विकार** होने के कारण पाचकादि के समान उस तुरीय आत्मा में क्रिया भी नहीं है।[36]

(iii) **निर्गुण** होने से आत्मा में नीलादि के समान गुण भी नहीं है।[37]

अत: जात्यादि शब्द-प्रवृत्ति के समस्त निमित्त का अभाव होने के कारण किसी भी नाम से उसका निर्देश नहीं किया जा सकता।

यदि आत्मा में जाति, गुण व कर्म न होने के कारण उसका भावात्मक वर्णन नहीं किया जा सकता, तो क्या उसका निषेधात्मक वर्णन किया जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में गौडपाद माण्डूक्यपोपनिषद् का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। "स्वरूप से वह आत्मा न अन्त:प्रज्ञ, न सुषुप्ति के समान प्रज्ञानघन है। वह न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ ही है। वह तो अदृश्य है, अतएव अव्यवहार्य है, कर्मेन्द्रियों से ग्रहण के योग्य न होने से अग्राह्य है।

---

34. माण्डूक्यकारिका भाष्य, 1/9—मिथ्याविकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः ॥
35. वही—आत्मनो निरुपाधिकत्वात् गवादिवन्नापि जातिमत्त्वमद्वितीयेन सामान्य विशेषाभावात्।
36. वही—नापि क्रियावत्त्वं पाचकादिवदविक्रियत्वात्।
37. माण्डूक्यकारिका भाष्य, 1/9 नापि गुणवत्त्वं नीलादिवन्निर्गुणत्वात्।

लिंगरहित होने से अनुमान के योग्य नहीं है। अत: वह अचिन्त्य है। इसीलिए शब्दों से वह अव्यपदेश्य है। चैतन्य की सभी अवस्थाओं में अव्यभिचारी होने के कारण आत्मा एकात्म-प्रत्ययसार है। प्रपञ्च का उपशमरूप, शान्त, शिव और अद्वैत स्वरूप है। ऐसा आत्मा के विषय में तत्त्ववेत्ता मानते हैं। अत:, वही आत्मा है और वही विशेष रूप से जानने योग्य है।"[38] शंकराचार्य इन वाक्यों पर भाष्य करते हुए कहते हैं: "अन्त:प्रज्ञ नहीं है" इससे आत्मा में तैजसत्व का निषेध किया गया है, तुरीय आत्मा "बहिष्प्रज्ञ नहीं है" इससे विश्व भाव का निषेध किया गया है, "उभयत: प्रज्ञ नहीं है", इससे जागृत और स्वप्न की मध्य अवस्था का निषेध किया गया है। "प्रज्ञानघन नहीं है" इससे सुषुप्तावस्था का निषेध किया गया है क्योंकि सुषुप्तावस्था बीजभावयुक्त अविवेकरूप है और तुरीय आत्मा में अविवेक नहीं है। "वह प्रज्ञ नहीं है" इससे एकसाथ सम्पूर्ण विषयों के ज्ञातृत्व का निषेध किया गया है तथा 'वह अप्रज्ञ नहीं है' इससे जड़ का निषेध किया गया है। इसी प्रकार आत्मा अदृष्ट या अदृश्य है क्योंकि उसमें रूप-गुण का अभाव है। अदृष्ट होने के कारण वह अव्यवहार्य है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों द्वारा ग्रहण के योग्य न होने के कारण वह अग्राह्य है। लिंगरहित होने के कारण वह अनुमान के योग्य नहीं है? अत: वह अलक्षणम् है। इसी कारण वह अचिन्त्य भी है। जाति, गुण व क्रिया न होने के कारण आत्मा शब्दों द्वारा अव्यपदेश्य है। इसी प्रकार जागृत, स्वप्न व सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में अव्यभिचारी होने के कारण एकात्मप्रत्ययसार है। वह प्रपञ्च का उपशमरूप, शान्त, शिव और अद्वैतस्वरूप है। ऐसा आत्मा के विषय में तत्त्ववेत्ता मानते हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है किं उपर्युक्त निषेधात्मक वर्णन यह बताता है कि आत्मा क्या नहीं है। हम तो यह जानना चाहते हैं कि आत्मा क्या है। प्रतिषेध-विज्ञान से आत्मा के विषय में जानकारी किस प्रकार प्राप्त हो सकती है? इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्ती कहते हैं कि जिस प्रकार रज्जु-सर्प विवेक होते ही अधिष्ठान रज्जु में अध्यस्त सर्प की निवृत्ति-रूप फल प्राप्त हो जाने पर रज्जु का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा में कल्पित अवस्थात्रय एवं तदभिमानी अन्त:प्रज्ञादि का निषेध कर देने पर तत्क्षण ही अधिष्ठान तुरीय आत्मा का बोध हो जाता है।

उपर्युक्त तथ्य को वेदान्ती एक दूसरे प्रकार से भी समझाने की चेष्टा करते हैं। अन्धकार में स्थित घट-ज्ञान के लिए अन्धकार के अपनयन से भिन्न व्यापार लोक में नहीं

---

38. मण्डू० उपनि०, 7—नान्त:प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयत:प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञंनाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय:।

देखा गया है। उसी प्रकार स्वयंप्रकाश आत्मा में अनादि अनिर्वचनीय कल्पित अज्ञाननिवृत्ति के सिवा उपनिषद् प्रमाण का आत्मबोध के लिए अन्य व्यापार नहीं होता।

शंकराचार्य ने माण्डूक्यकारिका भाष्य में अज्ञान-निवृत्ति एवं मोक्ष प्राप्ति का तीसरा उदाहरण भी दिया है। छेद्य वस्तुओं के अवयवों का सम्बन्ध-विच्छेद करने में प्रवृत्त छिदिक्रिया जैसे उनके अवयवों के विभाजित होते ही समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार घट और अंधकार के पृथक् करने में लगा हुआ प्रमाण अनिष्ट अंधकार की निवृत्ति-रूप फल के बाद उपरत हो जाता है। उस समय घट का ज्ञान अवश्य होता है, पर घट-ज्ञान प्रमाण का फल नहीं है, वरन् अज्ञान-निवृत्ति ही प्रमाण का फल है। घटावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न चैतन्य में अध्यस्त घट का प्रकाश घटाकार वृत्ति दशा में अवश्यम्भावी है। प्रमाण का फल घटावच्छिन्न चैतन्य के आवरक अज्ञान की निवृत्ति है। उसी प्रकार आत्मा में कल्पित अन्तः प्रज्ञत्वादि के विवेक में प्रवृत्त "नान्तःप्रज्ञं" इत्यादि प्रतिषेध विज्ञान रूप प्रमाण का व्यापार अनिष्ट अन्तःप्रज्ञत्वादि को निवृत्त करने के अतिरिक्त तुरीय आत्मा के बोधन में कुछ भी नहीं हो सकता। जिस क्षण में द्वैत प्रपञ्च की निवृत्ति होती है, उससे भिन्न क्षण में वृत्तिरूपज्ञान नहीं रहता। यदि क्षणान्तर में वृत्तिरूप-ज्ञान का रहना माना जाय तो उस वृत्ति की निवृत्ति के लिए वृत्यन्तर की आवश्यकता होगी और पुनः उस वृत्ति की निवृत्ति के लिए अन्य वृत्ति की आवश्यकता हो जायगी। इस प्रकार अनवस्था प्रसंग आ जाने से द्वैत की निवृत्ति नहीं हो सकेगी।[39] इससे सिद्ध हुआ कि प्रतिषेध प्रमाण के प्रवृत्त होते ही आत्मा में कल्पित अन्तः प्रज्ञत्वादि सम्पूर्ण अनर्थ की निवृत्ति हो जाती है।

कुछ लोगों के अनुसार सुषुप्ति की अवस्था में चैतन्य का व्यभिचार हो जाता है, ऐसी स्थिति में चैतन्य को अव्यभिचारी कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि सुषुप्ति में भी चैतन्य का अपलाप नहीं होता।[40] सुषुप्ति में ज्ञेय वस्तु का भले ही अभाव हो, पर आतृत्व का अभाव नहीं होता। श्रुति भी कहती हैं, "विज्ञाता की दृष्टि का लोप नहीं होता।"[41] सोकर उठने के बाद लोग कहते हैं "मैं सुखपूर्वक सोया"।[42] यह स्मृति सुषुप्ति-काल के अनुभव को प्रदर्शित करती है। अतः, अनुभव और श्रुति दोनों आधार पर सुषुप्ति में चिद्रूपता प्रमाणित होती है। एक अन्य स्थान

---

39. माण्डूक्यपोपनिषद् भाष्य, 7—ज्ञानस्य द्वैत निवृत्तिक्षणव्यतिरेकेण क्षणान्तरानव-स्थानात् अवस्थाने चानवस्थाप्रसंङ्गाद् द्वैतानिवृत्तिः।
40. सुषुप्तस्य अनुभूयमानत्वात्।
41. बृह० उप० 4, 3, 30—न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते।
42. सुखहम् अस्वाप्सम्।

पर भी श्रुति कहती है : "द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता ।"[43]

तुरीय आत्मा का प्रभाव

विश्व, तैजस और प्राज्ञ सम्बन्धित सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति में तुरीय आत्मा समर्थ (ईशान) है, इसी कारण उसे **प्रभु** कहा जाता है । इसी प्रकार निर्विकार व अव्यभिचरित होने के कारण उसे **अव्यय** कहा जाता है । रज्जु में कल्पित सर्प के समान उसमें आभासित सभी पदार्थ मिथ्या होने के कारण व सबका एक मात्र अधिष्ठान होने के कारण वह **अद्वितीय** कहा जाता है । सबका प्रकाशक होने के कारण वह तुरीय आत्मा देव (दिव्य) है । कल्पित विश्वादि की अपेक्षा चतुर्थ संख्या वाला होने के कारण उसे तुरीय कहा गया है और व्यापक होने से वह **विभु** माना गया है । सबका द्रष्टा होने के कारण उसे **सर्वदृक** कहा जाता है । विश्व और तैजस में अग्रहण और विपरीत ग्रहण दोनों होता है ? प्राज्ञ में केवल अग्रहण होता है, पर तुरीय में न अग्रहण और न विपरीत ग्रहण ही है । इसी तथ्य को गौडपाद ने निम्न प्रकार व्यक्त किया है, "पहले की दो अवस्थाएँ विश्व और तैजस स्वप्न तथा निद्रा दोनों से ग्रस्त हैं, प्राज्ञ आत्मा केवल निद्रा से युक्त है, स्वप्न से नहीं । किन्तु तुरीय में न निद्रा है और न स्वप्न ही ।"[44]

जो यह संसारी जीव है, वह वास्तव में परमात्मस्वरूप ही है । तत्त्व के अज्ञान के कारण वह अनादि काल से माया द्वारा ग्रस्त है । इसी कारण वह जागृत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में स्वप्न देखता हुआ सो रहा है । उसी से वह मेरा पिता है, मेरा पुत्र है, यह घर है, यह पशु है, मैं इसका स्वामी हूँ, इत्यादि अहंकार व अभिमान उत्पन्न होता है । इनकी प्राप्ति से मैं सुखी और वृद्धि को प्राप्त होता हूँ तथा इनके अभाव में मैं दुःखी और क्षीण हो जाता हूँ । जब जीव अनादि माया से सोता हुआ तत्त्वबोध के द्वारा भली प्रकार से जग जाता है, तभी उसे जन्म, निद्रा तथा स्वप्न से रहित अद्वैत आत्म-तत्त्व का बोध प्राप्त होता है ।[45]

---

43. बृह० उप० 4, 3, 23—न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपोविद्यते ।
44. माण्डूक्यकारिका, 1/14
स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥
45. माण्डूक्यकारिका, 1/16
अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि प्रबुद्ध होने के पूर्व प्रपञ्च की क्या स्थिति थी ? क्या उसका उस समय कोई अस्तित्व था अथवा नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में गौडपाद कहते हैं कि प्रपञ्च का वास्तव में न उत्पत्ति के पूर्व कोई अस्तित्व था, न उत्पत्ति के बाद और न निवृत्ति के बाद ही कोई अस्तित्व होता है । सत्य तो यह है कि यदि प्रपञ्च का अस्तित्व होता तो वह निस्संदेह निवृत्त हो जाता । वह तो रज्जु में भ्रान्ति दृष्टि से कल्पित सर्प के समान ही है । अतः उसे विवेक द्वारा निवृत्त होने का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है ?[46] मायावी द्वारा फैलाई गई माया कहाँ थी जो निवृत्त होती ? इसी प्रकार प्रपञ्च नामक द्वैत भी रज्जुसर्पवत् मायामात्र ही है । अतः, न कोई प्रपञ्च बनता है और न मिटता ही है । तीनों काल में अद्वितीय परमात्मा ही एकमात्र सत् है ।

आत्मा का अध्यक्षर और अमात्र रूप

यहाँ विश्व, तैजस और प्राज्ञ आत्मा के इन तीन पादों को अध्यक्षर कहा जाता है क्योंकि अक्षर का आश्रय लेकर नाम की प्रधानता से इनका वर्णन किया जाता है । उपर्युक्त तीनों आत्माओं को **अधिमात्र** भी कहा जाता है क्योंकि वे मात्राओं (अ+उ+म्) का आश्रय लेकर रहती हैं । अकार, उकार और मकार ये ही ओंकार की मात्राएँ हैं । आत्मा के पाद और ओंकार की मात्राओं के बीच अभेद सम्बन्ध होने से दोनों के बीच वास्तव में कोई विरोध नहीं होता । हम जानते हैं कि ॐ में तीन मात्राएँ हैं जो क्रमशः अ+उ+म् हैं । उक्त तीन मात्राएँ आत्मा के तीन पादों : विश्व, तैजस और प्राज्ञ का प्रतिनिधित्व करती हैं जिनका वर्णन नीचे दिया जाता है—

(1) **अकार और विश्व का अभेद**—ओंकार की प्रथम मात्रा 'अ' जागरित स्थान वाली आत्मा विश्व या वैश्वानर का प्रतिनिधित्व करती है । इसके दो कारण हैं : प्रथम आदिमत्व और द्वितीय आप्ति । अकार एवं विश्व के बीच आदिमत्व की समानता है । जिस प्रकार ओंकार का अकार नामक अक्षर आदिमान है, उसी प्रकार आत्मा का विश्व या वैश्वानर पद आदिमान है । जिस प्रकार दोनों के बीच आदिमत्व की समानता है, उसी प्रकार उनके बीच आप्ति की भी समानता है । आप्ति का तात्पर्य व्याप्ति से है । जिस प्रकार अकार से सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है, उसी प्रकार विश्व या वैश्वानर से सम्पूर्ण जगत् व्याप्त

---

46. वही, 1/17
प्रपञ्चो यदि विद्येत, निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ॥

है। श्रुति भी कहती है : "अकार द्वारा सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है।"[47] वाचक और वाच्य की एकता लोकप्रसिद्ध है ही। उपर्युक्त दो कारणों से अकार और विश्व के बीच तादात्म्य है।

(2) **उकार और तैजस का अभेद**—ओंकार की द्वितीय मात्रा उकार स्वप्न स्थान वाली तैजस आत्मा का प्रतिनिधित्व करती है। इसके भी दो कारण हैं : प्रथम **उत्कर्ष** एवं द्वितीय **उभयत्व**। जिस प्रकार अकार से उत्कृष्ट उकार है, उसी प्रकार विश्व से उत्कृष्ट तैजस है। विश्व स्थूल शरीराभिमानी है और तैजस सूक्ष्म शरीराभिमानी है। सूक्ष्म स्थूल से सदा उत्कृष्ट होता है। इसी उत्कर्ष के कारण उकार व तैजस के बीच समानता है। दूसरा कारण उभयत्व या मध्यवर्तित्व है। जिस प्रकार अकार व मकार का मध्यवर्ती उकार है, उसी प्रकार विश्व व प्राज्ञ का मध्यवर्ती तैजस है। उपर्युक्त दोनों कारणों से उकार एवं तैजस के बीच अभेद है।

(3) **मकार और प्राज्ञ का अभेद**—ओंकार की तृतीय मात्रा मकार सुषुप्ति-स्थान वाली प्राज्ञ आत्मा का प्रतिनिधित्व करती है। इसके भी दो कारण हैं : प्रथम मिति (माप) और द्वितीय अपीति (प्रलय)। **मिति** शब्द का अर्थ माप या प्रतिमान होता है। जिस प्रकार विशेष बाट से जौ, गेहूँ इत्यादि वस्तुएँ तौली जाती हैं, उसी प्रकार उत्पत्ति और प्रलय के समय-निर्गमन और प्रवेश के द्वारा प्राज्ञ से विश्व और तैजस नाप लिए जाते हैं। अर्थात्, सुषुप्ति-काल में विश्व और तैजस का प्रवेश प्राज्ञ में ही होता है और जागरण-काल में दोनों का प्राज्ञ से ही निर्गमन होता है। यही बात मात्राओं पर भी लागू होती है। जिस प्रकार ओंकार की समाप्ति में मकार में ही अकार और उकार का प्रवेश होता है और पुनः ओंकार का प्रयोग करने पर मानों मकार से ही अकार और उकार निकलते हैं, उसी प्रकार विश्व और तैजस का प्राज्ञ में प्रवेश और निर्गमन होता है। अतः, जिस प्रकार मकार, अकार और उकार को मापता है, उसी प्रकार प्राज्ञ विश्व और तैजस को मापता है। पुनः, **अपीति** रूप समानता के कारण भी प्राज्ञ और मकार की एकता है। जिस प्रकार ओंकार उच्चारण करने पर अन्तिम मकार अक्षर में अकार और उकार एकीभूत हो जाते हैं, उसी प्रकार सुषुप्ति-काल में विश्व और तैजस प्राज्ञ में लीन हो जाते हैं।[48] अतः, मिति और अपीति के कारण मकार और प्राज्ञ का अभेद है।

---

47. ऐ० आ०, 2, 3, 6—अकारो वै सर्वावाक्।
48. माण्डूक्योपनिषद्, 12 – "अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद।"

प्रणव-उपासना का फल

पूर्वोक्त समानताओं के आधार पर जो व्यक्ति आत्मा के विभिन्न पादों एवं ओंकार की विभिन्न मात्राओं के बीच तादात्म्य को जानता है, वह ब्रह्मज्ञानी हो जाता है। वह ब्रह्मज्ञानी कैसे होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में गौडपाद कहते हैं कि अकार का सतत् ध्यान विश्व को प्राप्त करा देता है; उकार का ध्यान तैजस को प्राप्त करा देता है, उसी प्रकार मकार का सतत् ध्यान प्राज्ञ को प्राप्त करा देता है। यही प्रणव-उपासना का फल है।

(4) **अमात्र और तुरीय आत्मा का अभेद**—जिसकी मात्रा नहीं होती, वह अमात्र कहा जाता है। वह अमात्र स्वरूप ओंकार चतुर्थ अर्थात् तुरीय विशुद्ध आत्मा है। वाणी को अभिधान और मन को अभिधेय कहते हैं। ऐसे मन और वाणी की शक्ति क्षीण हो जाने से यह तुरीय आत्मा **अव्यवहार्य** कही जाती है। वह प्रपञ्च का उपशम रूप, कल्याणकारी, अद्वैत तत्त्व है। जो अपने पारमार्थिक आत्मा को जानता है, वह स्वयं ही अपने तात्विक रूप में प्रवेश कर जाता है। परमार्थ तत्त्वदर्शी ब्रह्मवेत्ता तृतीय बीजभाव अज्ञान को जलाकर शुद्ध आत्मा में प्रविष्ट हो जाता है। अतः, उस तत्त्ववेत्ता का पुनर्जन्म नहीं होता क्योंकि तुरीय आत्मा अज्ञान-रूप बीजभाव के संस्पर्श से सर्वथा शून्य है। जिस प्रकार रज्जुआलम्बन का ज्ञान होने पर सर्प का अपलाप हो जाता है, उसी प्रकार तुरीय आत्मा का ज्ञान होने पर अन्य अज्ञानी आत्माओं का अपलाप हो जाता है।

उत्तम अधिकारी प्रणव-ज्ञान से ही परम तत्त्व को प्राप्त कर लेता है, किन्तु जो मध्यम व मन्द अधिकारी है, उनके लिए केवल ज्ञान ही पर्याप्त नहीं हैं, ज्ञान के साथ उपासना का भी विधान किया गया है। यह उपासना प्रणव-उपासना है। मध्यम व मन्द अधिकारी प्रणव की विभिन्न मात्राओं में अपने चित्त को समाहित करे क्योंकि ओंकार भयशून्य ब्रह्मस्वरूप ही है।

वास्तव में प्रणव ही परम ब्रह्म है और प्रणव ही अपर ब्रह्म है। मायारूप पादों के विलीन हो जाने पर आत्मा ही परब्रह्म है। आत्मा का कोई कारण न होने से वह **अपूर्व** है; उससे भिन्न जातीय न होने से वह **अनन्तर** है; उससे **बाह्य** किसी वस्तु के न होने से वह **अबाह्य** है; उसका कोई अपर या कार्य न होने के कारण वह **अनपर** भी है, आत्मा सैन्धवघन के समान **प्रज्ञानघन** भी है।[49]

---

49. माण्डूक्यकारिका, 1/26
प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरोऽ बाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः॥

जिसने मात्रारहित ओंकार और तुरीय को एक रूप से जान लिया है, वही परमार्थ तत्त्व का मनन करने वाला होने के कारण मुनि है।[50] तत्त्वज्ञान के अभाव में शास्त्रज्ञ होता हुआ भी कोई व्यक्ति मुनि नहीं कहला सकता। जिसके द्वारा मापन किया जाय, उसे मात्रा या परिच्छिति कहते हैं और वह मात्रा जिसकी अनन्त हो, वह अनन्त मात्रा वाला कहा गया है। इस अमात्र और अनन्त मात्र आत्मा का ज्ञान प्राप्त होने पर द्वैत-रूपी अनर्थ शान्त हो जाता है और परम मंगल की प्राप्ति हो जाती है।

द्वितीय : वैतथ्य प्रकरण

आगम प्रकरण में श्रुतियों के आधार पर सिद्ध किया गया कि तत्त्व अद्वय है। संसार में हमें जो द्वैत व नानात्व दिखाई देता है, वह सब मिथ्या है। अब द्वितीय प्रकरण में जगत् के मिथ्यात्व की तर्क व बुद्धि के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की जा रही है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि वैतथ्य से हमारा क्या तात्पर्य है? शंकराचार्य के अनुसार, "वितथ के भाव को वैतथ्य कहते हैं जिसका तात्पर्य असत्यत्व है।"[51] अब, प्रश्न यह है कि कौन-सी वस्तुएँ असत्य या मिथ्या हैं तो इसके उत्तर में कहा जाता है कि **स्वप्न** की वस्तुएँ असत् या मिथ्या हैं। हम सभी स्वीकार करते हैं कि स्वप्न की वस्तुएँ असत् या मिथ्या होती हैं। यदि संसार की वस्तुओं को भी स्वप्नवत् सिद्ध कर दिया जाय तो स्वप्न के समान संसार की वस्तुएँ भी मिथ्या सिद्ध हो जायँगी।

अब, प्रश्न यह है कि स्वप्न मिथ्या क्यों है? इसके उत्तर में गौडपाद कहते हैं कि स्वप्न के मिथ्यात्व के दो प्रमुख कारण हैं—

(1) **अन्तःस्थानात्**—जिनका शरीर के मध्य में स्थान है, उन्हें अन्तःस्थान कहते हैं। स्वप्न में हम जो **पर्वत** या **हाथी** देखते हैं, वे बाहर दिखाई अवश्य पड़ते हैं, पर वास्तव में उनका अस्तित्व शरीर के भीतर ही होता है। शरीर के भीतर उपलब्ध होने के कारण वे पदार्थ मिथ्या हैं। यदि कोई कहे कि "अन्तःस्थानात्" हेतु व्यभिचारी हैं क्योंकि गृह आदि

50. वही, 1/29
अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः॥
51. माण्डूक्यकारिका भाष्य, 2/1—वितथस्य भावो वैतथ्यम्, असत्यत्वम् इत्यर्थः।

के भीतर स्थित रहने वाले घट के अन्तःस्थान होने पर भी उनमें मिथ्यात्व नहीं पाया जाता। उसी प्रकार शरीर के मध्य स्थित होने पर भी स्वप्न के पदार्थ मिथ्या क्यों माने जायँ, इस शंका को दूर करने के लिए गौडपादाचार्य मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए एक दूसरा हेतु प्रदान करते हैं जो संवृतत्वात् है।

(2) **संवृतत्वात्**—स्वप्न-पदार्थ अन्तःस्थान होने के साथ-साथ संकुचित स्थान में रहने के कारण भी मिथ्या है। संकुचित देह के भीतर रहने वाली संकुचित नाड़ियों में पर्वत या हस्ती का रहना सम्भव नहीं है। इतने पर भी यदि पर्वत या हस्ती शरीर-स्थित संकुचित नाड़ियों में रहते हैं तो यह तभी सम्भव है जब कि वे मिथ्या हों।[52]

यदि कोई आक्षेप करे कि स्वप्न में दीखने वाले सभी पदार्थ संकुचित स्थान में नहीं रहते, बल्कि स्वप्नद्रष्टा शरीर के बाह्य प्रदेश में जाकर उन वस्तुओं को देखता है। ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि यह तर्क ठीक नहीं है क्योंकि एक मास में प्राप्त होने योग्य सौ योजन की दूरी वाले देश में सोने के तत्क्षण बाद ही स्वप्न-दृश्य वस्तुओं को देखता-सा प्रतीत होता है। उस देश में पहुँचने और वहाँ से लौटने के लिए जो दीर्घकाल अपेक्षित है, वह व्यावहारिक काल वही नहीं दीखता।

इतना ही नहीं, निद्रा से जागने पर सभी स्वप्नद्रष्टा स्वप्न-दर्शन-देश में अपने को नहीं देखते। यदि स्वप्नद्रष्टा देशान्तर गया होता तो जिस देश में उसने स्वप्न देखा था, उसी देश में जगने के बाद भी अपने को देखना चाहिए था। किन्तु ऐसा कही नहीं पाया जाता। इन सब कारणों से यही सिद्ध होता है कि स्वप्नद्रष्टा स्वप्न-दृश्य पदार्थों को बाहर जाकर नहीं, वरन् शरीर के संकुचित स्थानों में ही देखता है। यही स्वप्न का मिथ्यात्व है।[53]

जगत् का मिथ्यात्व

अद्वैत वेदान्त के अनुसार यद्यपि स्वप्न-जगत् व व्यावहारिक जगत् में पूर्ण साम्य नहीं है क्योंकि स्वप्न के भीतर केवल **प्रातिभासिक** सत्ता पाई जाती है, जबकि जगत् के भीतर **व्यावहारिक** सत्ता पाई जाती है। पर फिर भी कुछ अन्य बातों में दोनों के बीच

---

52. माण्डूक्यकारिका, 2/1
वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः।
अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना॥
53. माण्डूक्यकारिका, 2/2
अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते॥

समानताएँ अवश्य पाई जाती हैं जिनके कारण हम व्यावहारिक जगत् के पदार्थों को भी स्वप्न के समान मिथ्या कह सकते हैं। गौडपादाचार्य ने दोनों के बीच समानताओं और विभिन्नताओं को निम्न प्रकार व्यक्त किया है : "उक्त कारणों से ही जागृत अवस्था में भी पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। दृश्यत्व हेतु स्वप्न के समान जागृत के पदार्थों में भी मिथ्यात्व सिद्ध करता है। केवल शरीर के भीतर होना और संकुचित स्थान में रहना ही स्वप्न के पदार्थों में वैशिष्ट्य है।"[54] माण्डूक्यकारिका में जगत् के वैतथ्य (मिथ्यात्व) को सिद्ध करने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किए गए हैं—

(1) दृश्यत्वात्—शंकराचार्य ने माण्डूक्यकारिका भाष्य में निम्न अनुमान द्वारा जगत् के मिथ्यात्व को सिद्ध करने की चेष्टा की है :

प्रतिज्ञा—जागृद्दृश्यानां भावाना वैतथ्यम् ॥

हेतु — दृश्यत्वात्।

उदाहरण—स्वप्नदृश्यभाववत् ॥

अर्थात्, जागृत अवस्था में दीखने वाले सभी पदार्थ मिथ्या हैं क्योंकि उनमें दृश्यत्वहेतु विद्यमान है। जागृत के पदार्थ भी स्वप्न-पदार्थों की भाँति हैं। जिस प्रकार स्वप्न में देखे गए पदार्थों में दृश्यत्व व मिथ्यात्व है, उसी प्रकार जागृत के पदार्थों में भी दृश्यत्व समान ही है। अतः जागृत के पदार्थों में भी मिथ्यात्व समान रूप में विद्यमान होना चाहिए। जिस प्रकार स्वप्न में मिथ्यात्व-व्याप्य दृश्यत्व है, उसी प्रकार जागृत में भी मिथ्यात्व-व्याप्य दृश्यत्व होना चाहिए। अन्तस्थ होना और संकुचित स्थान में होना केवल स्वप्न के पदार्थों की ही विशेषताएँ हैं, जागृत की नहीं, पर दृश्यत्व और मिथ्यात्व तो दोनों अवस्थाओं में तुल्य हैं।[55]

2. ग्राह्यग्राहकत्वात्—जिस प्रकार स्वप्न के पदार्थों में ग्राह्य-ग्राहक भाव है, उसी प्रकार जागृत के पदार्थों में भी ग्राह्य-ग्राहक भाव पाया जाता है। इस ग्राह्य-ग्राहक भाव-रूप प्रसिद्ध हेतु के तुल्य होने से भी स्वप्न और जागृत अवस्थाओं का विवेकी पुरुषों ने एकत्व प्रदर्शित किया है। इस प्रकार पूर्वप्रमाण से सिद्ध हुए दृश्यत्व-हेतु का मिथ्यात्व फल यहाँ

---

54. मा० का०, 2/4
अन्तःस्थानातुभेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम्।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेनभिद्यते ॥
55. माण्डू० कारिका भाष्य, 2/4—अन्तःस्थानात्संवृतत्वेन च स्वप्नदृश्यानां भावानां जाग्रद्दृश्येम्यो भेदः। दृश्यत्वमसत्यत्वं चाविशिष्टमुभयत्र ॥

स्पष्ट किया है ।[56]

3. **आद्यन्तयो : अभावात्**—जागृत अवस्था में दीखने वाले सभी पदार्थ मिथ्या हैं क्योंकि आदि और अन्त दोनों में उन वस्तुओं का अभाव है । मृगतृष्णिकादि वस्तुएँ आदि और अन्त दोनों में नहीं हैं, अत: मध्य में दीखती हुई भी वे नहीं के समान ही हैं । ठीक उसी प्रकार जागृत की वस्तुएँ भी है क्योंकि उनका भी प्रारम्भ और अन्त में अभाव देखा जाता है । मिथ्या होते हुए भी अनात्मज्ञ उन्हें सत्य समझते हैं ।[57]

4. **चित्तपरिकल्पितत्वात्**—जिस प्रकार स्वप्नावस्था में चित्त के अन्त:कल्पित पदार्थ असत् और चित्त के बार इन्दियों द्वारा ग्रहीत पदार्थ सत् जान पड़ता है, पर फिर भी दोनों में मिथ्यात्व समान रूप से पाया जाता है, उसी प्रकार जागृतावस्था में भी चित्त के भीतर कल्पित पदार्थ असत् और चित्त के बाहर ग्रहीत पदार्थ सत् समझा गया है, किन्तु दोनों ही स्वप्न-पदार्थों की भाँति मिथ्या ही हैं ।[58]

यहाँ आक्षेप किया जा सकता है कि यदि स्वप्न और जागृत दोनों अवस्थाओं के पदार्थों में मिथ्यात्व है तो चित्त के बाहर और चित्त के भीतर कल्पित पदार्थों को जानता कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में गौडपाद कहते हैं कि स्वयंप्रकाश आत्मा ही अपनी माया से अपने आप में ही भेदभाव की कल्पना वैसे ही करता है, जैसे रज्जु में सर्प की कल्पना की जाती है । दोनों में अन्तर यह है कि रज्जु में कल्पित सर्प का द्रष्टा अधिष्ठान से भिन्न पुरुष होता है और यहाँ तो स्वयं अपने में कल्पित स्वप्न-दृश्य का देखने वाला स्वप्नद्रष्टा ही है । अत:, ज्ञान और स्मृति अथवा जागृत और स्वप्न इन दोनों का आश्रय एक ही है ।[59]

5. **अवैलक्षण्यात्**—कुछ लोग आभ्यन्तर एवं बाह्य पदार्थों के स्वभाव में विलक्षणता का प्रतिपादन करते हैं । आन्तरिक पदार्थ जो केवल चित्त से जानने योग्य हैं, वे **चित्तकाल** वाले कहे जाते हैं, इसके विपरीत, बाह्य पदार्थ **द्वयकाल** वाले माने गए हैं, अर्थात् जब हम उन्हें देखते हैं तो उनका अस्तित्व तो होता ही है, पर जब हम उन्हें नहीं देखते, उस काल में भी उनका अस्तित्व बना रहता है । इसीलिए उन्हें अन्योन्यपरिच्छेद्य कहा गया है । जैसे

---

56. मा का० भा० 2/5—ग्राह्यग्राहकत्वेन हेतुना समत्वेन स्वप्नजागरितस्थानयो: एकत्वमाहुर्विवेकिन इति ।
57. मा० का०, 2/6—आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
58. मा० का० 2/10
जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।
बहिश्चेतो गृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयो: ॥
59. वही, 2/12
कल्पयत्यात्मनाऽऽत्मानमात्मादेव: स्वमायया ।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्त निश्चय: ॥

"गोदोहन पर्यन्त बैठता है" अर्थात् "जब तक गो दुहता है तब तक बैठता है और जब तक बैठता है तब तक दुहता है।" इस प्रकार गोदोहन और उसका आसन एक दूसरे के परिच्छेदक हैं। इसी प्रकार जागृत के दृश्य पर और अपर दोनों कालों से परिच्छिन्न माने गए हैं। इसी कारण बाह्य वस्तुओं में परस्पर परिच्छेद्य-परिच्छेदक भाव पाया जाता है। इसके विपरीत, आभ्यन्तर पदार्थ केवल चित्तकाल में ही रहते हैं। ऐसी स्थिति में दोनों को ही मिथ्या कैसे कहा जा सकता है?

उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुए गौडपाद कहते हैं कि चितकाल वाले आभ्यांतर पदार्थ और द्वय्काल वाले बाह्य पदार्थ सभी कल्पित ही तो हैं। यहाँ भी दृष्टान्त रूप में स्वप्न का उदाहरण लिया जा सकता है। जिस प्रकार स्वप्न में बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों में भेद होते हुए भी दोनों मिथ्या कहे जाते हैं, उसी प्रकार जागृत अवस्था में प्राप्त बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों में भी मिथ्यात्व पाया जाता है। दोनों प्रकार के पदार्थों का भेद इन्द्रियों के कारण है। अर्थात्, आभ्यन्तर पदार्थ चित् से देखा गया और बाह्य पदार्थ चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों द्वारा देखा गया। कल्पितत्व तो दोनों में समान ही है।[60]

अत: यह सिद्ध हो गया कि स्वप्न पदार्थ के समान जागृत के पदार्थ भी कल्पित होने के कारण मिथ्या ही हैं। बाह्य-आभ्यन्तर पदार्थों का भेद पदार्थों के अस्तित्व के कारण नहीं है। इनका भेद इन्द्रियों के कारण है। न तो बाह्य और न आभ्यन्तर पदार्थों का ही स्वतन्त्र अस्तित्व पाया जाता है। संसार की सभी वस्तुएँ चैतन्य के ऊपर आश्रित हैं।

6. **जीव हेतुफलात्मकत्वात्**—हम जानते हैं कि बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओं के बीच परस्पर निमित्त और नैमित्तिक सम्बन्ध (हेतु-फल-सम्बन्ध) पाया जाता है। अर्थात् बाह्य वस्तु के कारण संस्कार पड़ता है, संस्कार से पुन: आभ्यन्तर पदार्थ की कल्पन होती है और उसी कलपना से पुन: बाह्य पदार्थों में पारमार्थिकत्व दीखने लगता है। इसका मूल कारण क्या है? इसका एक मात्र कारण जीव का कर्तृत्वभाव है। "मैं कर्ता हूँ, मुझे सुख-दु:ख होता है।" जीव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप ही बाह्याभ्यन्तर पदार्थों का वास्तविक कारण होता है। जीव जिस प्रकार के विज्ञान वाला होता है, उसी प्रकार की उसकी स्मृति होती है। अन्नभक्षणादि के कारण अन्नभक्षण की कल्पना के विज्ञान से तृप्ति आदि फल का विज्ञान होता है और उस फल के विज्ञान से दूसरे दिन तृप्ति के हेतु अन्नभक्षणादि विज्ञान का स्मरण हो जाता है। उसी स्मृति से उनका विज्ञान तथा अन्नभक्षणादि के लिए

---

60. मा० का० 2/15
अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहि:।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे ॥

पाकादि कर्म-कारक एवं उनकी तृप्ति आदि फल विशेष का ज्ञान होता रहता है। उससे पुनः उन्हीं वस्तुओं का स्मरण होता है और इस स्मरण से उनके कारण विज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह बेचारा जीव बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों की परस्पर निमित्त और नैमित्तिक भाव से अनेकविध कल्पना करता रहता है। इसी बात को गौडपादाचार्य ने निम्न प्रकार से व्यक्त किया है, "शुद्ध आत्मा में वह प्रभु पहले कर्तृत्वादि विशिष्ट जीव की कल्पना करता है, तत्पश्चात् भिन्न-भिन्न प्रकार के बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों की कल्पना करता है। जीव जैसा विचार वाला होता है, वैसी ही उसकी स्मृति भी होती है।"[61]

7. **अद्वयरूपेण अनिश्चितत्वात्**—ऊपर हमने देखा कि सम्पूर्ण कल्पनाओं का मूल कारण जीव-कल्पना ही है। इस जीव कल्पना का क्या कारण है। गौडपाद के अनुसार इसका कारण **अज्ञान** है। जिस प्रकार रज्जु-ज्ञान अनिश्चित होने के कारण ही हमें उसमें सर्प, जलधारा, दण्ड, भूछिद्र इत्यादि के विकल्प दिखाई देते हैं, उसी प्रकार अद्वितीय, विशुद्ध चैतन्य रूप ब्रह्म का स्वरूप से निश्चय न होने के कारण ही नाना प्रकार के भेदों की कल्पना होने लगती है। तात्पर्य यह है कि अधिष्ठान तत्त्व का अज्ञान ही अधिष्ठान के नाना रूप में विकल्पित होने में एक मात्र कारण देखा गया है।[62]

जिस प्रकार "यह रज्जु ही है" ऐसा निश्चय होने पर सर्पादि विकल्प की निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार विशुद्ध आत्मा का ज्ञान प्राप्त होने पर नानात्व व भेद का विलोप हो जाता है।[63] आत्मबोधक श्रुतियाँ जैसे : "यह सब कुछ आत्मा ही है,"[64] "आत्मा अपूर्व, अनपर, अनन्तर और अबाह्य है,"[65] "आत्मा अजर, अमर, अमृतस्वरूप एवं अद्वय है"[66] इत्यादि सभी श्रुतियों से अधिष्ठान तत्त्व का बोध होता है। अधिष्ठान का यह बोध अज्ञान एवं तज्जन्य निखिल भ्रान्ति का निवर्तक है।

---

61. मा० का० 2/16
जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान।
बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथा स्मृतिः॥
62. मा० का०, 2/17
अनिश्चता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पित।
सर्पधारादिभिर्भावैः तद्वदात्मा विकल्पितः॥
63. मा० का० 2/18
निश्चतायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः॥
64. छा० उप० 7, 25, 2, आत्मैवेदं सर्वम्।
65. बृ० उप० 2, 5, 16 अपूर्वोऽनपरोऽनन्तरोऽबाह्यः।
66. बृ० उप० 4, 4, 25 अजरोऽमरोऽमृतोऽभय एक एवाद्वयः॥

8. **देवस्य मायैषा**—यदि आत्मा एक ही है तो संसाररूप नानात्व किस प्रकार और क्यों भासित हो रहा है? इस संसार का कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गौडपाद कहते हैं कि उस आत्मदेव की माया ही सम्पूर्ण विकल्पों का एकमात्र कारण है। जिस प्रकार मायाबी की माया अत्यन्त स्वच्छ आकाश को पत्र-पुष्प से पूर्ण वृक्षों के द्वारा व्याप्त कर देती है, उसी प्रकार ईश्वर की माया अद्वैत ब्रह्म के स्थान पर नाना रूपात्मक जगत् को आभासित करती है।[67] गौडपाद आत्मनिष्ठ विज्ञानवादी न होकर वस्तुनिष्ठ विज्ञानवादी है। जगत् जीवकृत न होकर ईश्वरकृत है। किन्तु जब जीव ज्ञान द्वारा अपने अज्ञान को समाप्त कर देता है, सर्वत्र ब्रह्म ही उसे दिखाई पड़ता है।

9. **वेदान्तगम्यत्वात्**—यह जो द्वैत का मिथ्यात्व युक्तिपूर्वक बताया गया, उसे श्रुति के आधार पर भी प्रदर्शित किया जा सकता है। स्वप्न और माया जो असद् वस्तुस्वरूप है, उन्हें अविवेकियों ने सद्वस्तु की भाँति देखा है, पर विवेकियों की दृष्टि में जिस प्रकार स्वप्न और माया असद् रूप हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण द्वैत जगत् असद् रूप देखा गया है।[68] श्रुतियाँ भी इसका स्पष्ट रूप में प्रतिपादन करती हैं। "यहाँ नानात्व कुछ भी नहीं है,"[69] "सृष्टि से पहले यह सम्पूर्ण जगत् आत्मा ही था,"[70] "उत्पत्ति से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही था"[71] तथा "उस ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है"[72] इत्यादि श्रुतियों में वस्तुतत्त्वदर्शी पंडितों द्वारा द्वैत में मिथ्यात्व देखा गया हैं।

अन्त में सम्पूर्ण प्रकरण का उपसंहार करते हुए गौडपाद कहते हैं कि जब द्वैत असत् है और एक मात्र आत्मा ही परमार्थतः सत् है, तो इससे सिद्ध हो जाता है कि सम्पूर्ण लौकिक और वैदिक व्यवहार अविद्या-विषयक ही है। व्यवहारमात्र अविद्या-विषयक होने से परमार्थ अवस्था में न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न आबद्ध संसारी जीव है, न मोक्ष के साधन

---

67. मा० का० 2/19
प्राणादिभिरनन्तैश्चभावैरेतैर्विकल्पितः।
मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयम्॥
68. वही, 2/31 स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥
69. कठ० उप० 2, 1, 11 नेह नानाऽस्ति किंचन्।
70. बृह० उप० 1, 4, 17 आत्मैवेदमग्र आसीत्।
71. बृह० उप० 1, 4, 10 ब्रह्मैवेदमग्र आसीत्।
72. बृह० उप० 4, 3, 23 न तु तद्द्वितीयमस्ति।

से सम्पन्न साधक ही है, न मोक्षाभिलाषी मुमुक्ष है और न बन्धन से छूटा हुआ कोई मुक्त ही है । जब उत्पत्ति और प्रलय का अभाव है, तो बद्ध और मुक्त कैसे हो सकते हैं ? बस यही पारमार्थिक तत्त्व हैं ।[73]

तृतीय : अद्वैत प्रकरण

द्वितीय प्रकरण में "दृश्यत्व" एवं "आद्यन्तत्व" के आधार पर जगत् के मिथ्यात्व को सिद्ध किया गया । जगत् के मिथ्यात्व की सिद्धि तर्क के आधार पर की गई । अद्वैत नामक तृतीय प्रकरण में इस बात पर विचार किया गया है कि जिस प्रकार तर्क के आधार पर जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है, उसी प्रकार क्या तर्क के आधार पर अद्वैत तत्त्व को जाना जा सकता है कि नहीं ? आगम प्रकरण में श्रुति के आधार पर अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन किया गया । अब तर्क-बुद्धि के आधार पर अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन किया जा रहा है ।

अद्वैत प्रतिपादन-सम्बन्धित युक्तियाँ

1. **अजाति : अवयव वैषम्याभावात्**—तत्त्व वह है जो अविनाशी हों । अविनाशी वही होता है जो अनुत्पन्न हो । जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश होना अनिवार्य है । इसीलिए तत्त्व को अजाति कहा गया है । जिसकी जाति न हो, उसे अजाति कहते हैं । वह अजात ही सर्वसाम्यभाव को प्राप्त है क्योंकि उसमें अवयव की विषमता नहीं है । जो वस्तु सावयव होती है, वही अवयववैषम्य को प्राप्त होकर जन्म लेती है । ब्रह्म निरवयव होने के कारण समता को प्राप्त है ।[74] अत: उसमें अवयवों के परिस्फुटित होनें का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता । जिस प्रकार रज्जु-सर्प अविद्या-दृष्टि से उत्पन्न होता हुआ भी उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार सृष्टि भी उत्पन्न होती प्रतीत होती हुई भी वास्तव में अनुत्पन्न है । निरवयव होने के कारण ब्रह्म भी उत्पन्न नहीं होता । वह सदा अक्षुण्ण ही रहता है । अजन्मा ब्रह्म ही एक मात्र अदीन है ?[75]

---

73. मा० का० 2/32 न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक: ।
न मुमुक्षर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

74. मा० का० भाष्य, 3/2 तदजाति, अविद्यमाना जातिरस्य । समतागतं सर्वसाम्यं गतम् । कस्मात् । अवयववैषम्याभावात् । यद्धि सावयवं वस्तु वस्तु तदवयवैवैंषम्यं गच्छज्जायत इत्युच्यते ।

75. मा० का० 3/2
अतो वक्ष्याम्य कार्पण्यमजाति समतां गतम् ।
यथा न जायते, किंचिज्जायमानं समन्तत: ॥

2. **आकाशवत् सूक्ष्मत्वात्**—परमात्मा आकाश के समान सूक्ष्म, निरवयव और सर्वव्यापक कहा गया है। फिर इससे जीव और जगत् की किस प्रकार उत्पत्ति होती है? यहाँ गौडपाद ने जीव और जगत् की उत्पत्ति के लिए दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है : जीव की उत्पत्ति के लिए अवच्छेदवाद का तथा जगत् की उत्पत्ति के लिए **अध्यासवाद** का प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार महाकाश से घट आदि उपाधियों के द्वारा "घटाकाश" "करकाकाश" या "मठाकाश" की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार परमात्मा से शरीरादि उपाधियों द्वारा भिन्न-भिन्न जीवात्माओं की उत्पत्ति होती है। पुनः जैसे महाकाश से घटादि संघात उत्पन्न होते हैं, वैसे ही स्थानीय परमात्मा से रज्जु, सर्प की भाँति पृथिव्यादि भूत संघात कल्पित पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार घट की उत्पत्ति से आकाश की या रज्जु-सर्प की उत्पत्ति से रज्जु की कोई हानि नहीं होती, उसी प्रकार जीव व भूतादि के उत्पन्न होने से आत्म-तत्व की भी कोई हानि नहीं होती।[76]

जो बात उत्पत्ति के विषय में सही है, वही बात विनाश के सम्बंध में भी लागू होती है। जैसे घटादि रूप उपाधि की उत्पत्ति से घटाकश की उत्पत्ति मानी जाती है और घटादि के विनाश से घटाकाशादि का विनाश माना जाता है, उसी प्रकार देहादि संघात की उत्पत्ति से जीव की उत्पत्ति और उनके नाश से इस अपरोक्ष आत्मा में विलय माना गया है। स्वरूप से महाकाश की भाँति जीव की न उत्पत्ति होती है और न विनाश ही होता है।[77]

उपर्युक्त तथ्य को एक-दूसरे प्रकार से भी समझाने की चेष्टा की गई है। जिस प्रकार एक ही आकाश में घट, कमण्डल, मठादि अवच्छिन्न आकाशों के अल्पत्व महत्वादि रूप भिन्न-भिन्न होते हैं एवं व्यवहार में उनके लिए जल लाना, जल धारण करना और शयन करना आदि कार्य तथा घटाकाश, करकाकाश, मठाकाशादि नाम देखे गए हैं, उसी प्रकार देहादि उपाधि भेद के कारण ही घटाकार स्थानीय जीवात्मा में भेद माना गया है। परमार्थतः उनमें कोई भेद नहीं है।[78]

---

76. मा० का० 3/3
आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः।
घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम्।
77. वही, 3/4
घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहाऽऽत्मनि॥
78. मा० का० 3/6
रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः॥

3. **निर्विकारत्वात्**—जिस प्रकार स्वर्णाभूषण स्वर्ण के विकार हैं, फेन-बुद्बुद् जल के विकार हैं, उसी प्रकार घटाकाश महाकाश का विकार नहीं है। यही बात जीवात्माओं पर भी लागू होती है। अर्थात्, जिस प्रकार घटाकाश महाकाश का विकार नहीं है, उसी प्रकार स्थानीय जीव परमात्मा का कोई विकार नहीं है। विकार केवल सावयव वस्तुओं में ही पाया जाता है, निरवयव वस्तुओं में किसी भी प्रकार के विकार के लिए कोई भी अवकाश नहीं है।[79]

4. **निर्मलत्वात्**—जो आकाशतत्त्वदर्शी विवेकी पुरुष हैं, वे जानते हैं कि आकाश निर्मल और स्वच्छ होत है, किन्तु अविवेकी पुरुषों की दृष्टि में आकाश बादल, धूलि और धूमादि रूप मलों के द्वारा मलिन हो जाता है। उसी प्रकार परमात्मा जो विज्ञाता प्रत्यक् तथा सर्वसाक्षी है, विवेकशून्य अज्ञानियों की दृष्टि में क्लेश कर्म और फल रूप मल से मलिन हो जाता है, आत्मज्ञानियों की दृष्टि में नहीं।[80] तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मरुभूमि में प्यासे प्राणी के द्वारा कल्पना किए गए फेन-तरंगादि के द्वारा मरुभूमि उनसे युक्त नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानियों द्वारा कल्पित क्लेशादि मलों से मलिन नहीं होती।

उपर्युक्त बात को और अधिक विस्तृत रूप में समझाते हुए गौडपाद कहते हैं कि जिस प्रकार घटाकाश का जन्म, मरण, गमन, आगमन और स्थिति पारमार्थिक न होकर प्रातीतिक ही होता है, उसी प्रकार जीवात्मा का जन्म, मरण, गमन, आगमन और स्थिति भी पारमार्थिक न होकर प्रातीतिक ही होता है।[81]

5. **निरवयत्वात्**—जो परमार्थ सत् अद्वैत है, वह माया के कारण ही भेद वाला प्रतीत होता है। जिस प्रकार तिमिर दोष के कारण दीखने वाले अनेक चन्द्र तथा भ्रम के कारण प्रतीत होने वाले सर्पधारादि भेदों का अधिष्ठान वास्तविक चन्द्र और रज्जु है, उसी प्रकार माया से प्रतीत होने वाले द्वैत का पारमार्थिक रूप अद्वैत ही है। द्वैत-भेद पारमार्थिक नहीं है क्योंकि आत्मा निरवयव है। अवयवों के भेद से सावयव वस्तु ही भेद वाली होती है, जैसे

---

79. मा० का० 3/7 नाऽऽकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा।
नैवाऽऽत्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा॥
80. वही, 3/8 यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः।
तथा भवत्यबुद्धानामात्माऽपि मलिनो मलैः॥
81. मा० का० 3/9 मरणे, संभवे चैव गत्यागमनयोरपि।
स्थितौ सर्वशरीरेषु आकाशेनाविलक्षणः॥

घटादि अवयव-भेद से मृतिका।[82] अतः, निरवयव और अजन्मा आत्मा माया के अतिरिक्त अन्य किसी भी कारण से भेद वाला नहीं हो सकता। यदि उस अद्वैत तत्त्व में भेद परमार्थतः स्वीकार किया जाय तो अमर, अजन्मा, अद्वय एवं स्वभाव से सत् होकर भी आत्मा मृत्यु को प्राप्त होने लगेगी।[83] अतः अजन्मा, अद्वय तत्त्व माया से ही भेद वाला होता है, परमार्थतः नहीं। अतः, द्वैत पारमार्थिक सत् नहीं है, किन्तु अद्वैत का विवर्त है।

6. **अप्रतिषेधात्**—अद्वैत तत्त्व नित्य बुद्ध स्वभाव वाला है व एकरस है। वह इन्द्रियों और बुद्धि के द्वारा ग्राह्य नहीं है। अग्राह्य होने के बावजूद हमारी बुद्धि उसका वर्णन करने के लिए उद्यत हो जाती है, पर उसका यथार्थ वर्णन करने में वह सदा असमर्थ रहती है। इस कारण अद्वैत का जो पहले भाव रूप में वर्णन किया गया, उसका निषेध अनिवार्य हो जाता है। पर इससे यह कदापि निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि तत्व-दर्शन में बुद्धि-विकल्पों की कोई उपयोगिता नहीं है। कल्पित वस्तु अधिष्ठान-तत्त्व में उपाय है और अधिष्ठान नित्य एकरस है। जो इस रहस्य को जानता है, उस व्यक्ति के द्वारा कल्पित उपायों के प्रतिषेध कर देने पर उपेय रूप अधिष्ठान को जानने के लिए पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसीलिए श्रुतियों में निर्विशेष आत्मा को बतलाने के लिए पहले आरोप और बाद में आरोपित वस्तु का अपवाद किया जाता है। इसी **अध्यारोप-अपवाद न्याय** से निर्विशेष वस्तु का बोध सम्भव होता है।[84] उस परम तत्त्व का निषेध सम्भव नहीं है।

7. **कार्यग्रहणात्**—तत्त्व के विषय में एक शंका खड़ी की जा सकती है कि यदि आत्मतत्त्व अग्राह्य है तो उसे असत् ही क्यों न मान लिया जाय? इस शंका का समाधान करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि तत्त्व को असत् नहीं माना जा सकता क्योंकि उसका कार्य देखा जाता है। कोई भी वस्तु अकारण नहीं हो सकती। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। कार्य भले ही असत् हो, पर कारण असत् नहीं हो सकता। अद्वैत वेदान्त न सत्कार्यवाद में विश्वास करता है और न असत्कार्यवाद में। वह वस्तुतः **सत्कारणवाद** में विश्वास करता है। जन्म, मृत्यु सब मायाजन्य हैं। अजन्मा वस्तु का जन्म हो नहीं सकता। अतः, इससे सिद्ध होता है कि किसी जायमान वस्तु का ही जन्म हो सकता है। किसी जायमान वस्तु का कारण कोई जायमान वस्तु ही होगी और इस जायमान वस्तु का कारण कोई दूसरी जायमान वस्तु होगी और इस प्रकार उसमें **अनवस्था दोष** की

---

82. वही, शां० भाष्य, निरवयवत्वादात्मनः। सावयवं ह्यवयवान्यथात्वेन भिद्यते। यथा मृदघटादि भेदैः॥
83. वही, 3/19 मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथञ्चन।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यताममृतं व्रजेत॥
84. मा० का० 3/26 स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाऽजं प्रकाशते॥

प्राप्ति होगी। अतः, इस तर्क से सिद्ध होता है कि आत्म-तत्त्व अजन्मा ही है। वह विशुद्ध अद्वैत तत्त्व है।

उपर्युक्त तथ्य को एक दूसरे प्रकार से भी समझाने की चेष्टा की गई है। इसके लिए गौडपाद ने असत्कार्यवाद व सत्कार्यवाद दोनों की आलोचना प्रस्तुत की है। असत्कार्यवादियों के विरुद्ध वे कहते हैं कि जो वस्तु बन्ध्या-पुत्र के समान असत् है, उसका जन्म न माया से और न वस्तुतः किसी प्रकार से सम्भव है।[85] उसी प्रकार जो वस्तु परमार्थतः सत् है, उसके भी जन्म होने का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। अतः सत्कार्यवाद भी ठीक नहीं है। जब असत्कार्यवाद और सत्कार्यवाद दोनों ठीक नहीं है तो वस्तुतः सत् क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में गौडपाद कहते हैं कि जिस प्रकार रज्जु में कल्पित सर्प रज्जु-रूप से देखे जाने पर सत् हैं, उसी प्रकार आत्म रूप से देखे जाने पर मन भी सत् ही है। ग्राह्य-ग्राहक रूप से प्रतीत होने वाला द्वैताभास माया द्वारा स्वप्न में स्पन्दन मात्र ही है। उसी प्रकार जागृतावस्था में यह मन ही माया से विविध रूप में स्फुरित होता जान पड़ता है। वास्तव में वह स्फुरित नहीं होता।[86]

8. **अमनीभावात्**—अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उस अद्वैत तत्व का हम किस प्रकार साक्षात्कार कर सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गौडपाद कहते हैं कि रज्जु-सर्प के समान विकल्पना रूप यह मन ही द्वैत रूप से भासता है। वास्तव में मन ही सम्पूर्ण प्रपञ्च का कारण होता है। इसके प्रमाणस्वरूप **अन्वय-व्यतिरेक विधि** को प्रस्तुत किया जाता है। हम जानते हैं कि मन के रहने पर द्वैत रहता है और सुषुप्ति में मन के न रहने पर द्वैत का अभाव होता है। अतः, प्रपञ्च के विनाश के लिए तथा अद्वैत तत्व को प्राप्त करने के लिए मन का निरोध करना आवश्यक है। विवेक ज्ञान के **अभ्यास और वैराग्य** द्वारा मन का निरोध आसानी से किया जा सकता है। जिस प्रकार रज्जु में सर्प का बाध कर दिए जाने पर सर्प नहीं दीखता, उसी प्रकार मन के निरोध हो जाने पर सम्पूर्ण

---

85. मा० का० 3/28
असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते।
बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वाऽपि जायते॥

86. मा० का० 3/29
यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः॥

प्रपञ्च का विनाश हो जाता है और अद्वैत तत्त्व की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।[87]

चतुर्थ : अलातशान्ति-प्रकरण

प्रथम आगम प्रकरण में ओंकार के माध्यम से अद्वैत तत्त्व की प्रतिज्ञा की गई। द्वितीय वैतथ्य प्रकरण में जगत् के मिथ्यात्व का तर्क द्वारा प्रतिपादन किया गया। पुनः, तृतीय अद्वैत प्रकरण में तर्क एवं युक्ति के आधार पर अद्वैत तत्त्व की स्थापना की गई। अब, चतुर्थ अलातशान्ति प्रकरण में अद्वैत-दर्शन-विरोधी जितने मत हैं, उनका खण्डन प्रस्तुत किया जा रहा है। गौडपादाचार्य के दर्शन की यह विशेषता है कि वे सत्य तक पहुँचने के लिए **मण्डन** और **खण्डन** दोनों प्रक्रियाओं को क्रमशः उपयोग में लाते हैं। आगम-प्रकरण मण्डनात्मक है, वैतथ्य-प्रकरण खण्डनात्मक है। पुनः, अद्वैत प्रकरण मण्डनात्मक है और अन्त में अलातशान्ति प्रकरण खण्डनात्मक है। इस प्रकार मण्डन और खण्डन द्वारा सत्य तक पहुँचने की चेष्टा की गई है।

गौडपाद का यह निश्चित मत है कि अद्वैत-विरोधी जितने दर्शन हैं, वे परस्पर विरोधी होने के कारण रागद्वेषादि क्लेशों के केन्द्र हैं। अतः, इन परस्परविरोधी दर्शनों के मिथ्यात्व एवं असंगतियों को सिद्ध करने के लिए अन्तिम अलातशान्ति प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। अलात-चक्र का शाब्दिक अर्थ उल्का-चक्र से है। जिस प्रकार उल्का-चक्र अपने स्पन्दन से नाना प्रकार की आकृतियों को जन्म देता है, उसी प्रकार विज्ञान अपने स्पन्दन से सृष्टि की नाना प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार अलात-चक्र के स्पन्दन की शान्ति होने पर नाना प्रकार की आकृतियों का शमन हो जाता है, उसी प्रकार विज्ञानस्पन्दन के निरोध से सृष्टि का भी शमन हो जाता है। यही अलात-शान्ति प्रकरण का उद्देश्य है।

इस अन्तिम प्रकरण में अलात-चक्र की शान्ति के लिए जिस योग का वर्णन किया गया है, उसे **अस्पर्श योग** कहते हैं। जिस योग का किसी से कभी भी स्पर्श न हो, उसे अस्पर्श योग कहते हैं। वस्तुतः, वह ब्रह्म-स्वरूप ही है। यह योग सभी प्राणियों के लिए सुखदायक होता है। कोई वस्तु अत्यन्त सुख-साधन विशिष्ट होती हुई भी दुःखरूप होती है। अर्थात्, फलरूप से अत्यन्त सुखकर होते हुए भी साधनरूप में दुःखकर होती है। पर

---

87. वही, 3/31 मनो दृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥

अस्पर्श योग साधनरूप तथा फलरूप दोनों प्रकार से प्राणियों के लिए सुखकारक है। इतना ही नहीं, यह योग निर्विवाद एवं अविरुद्ध भी है। जिसमें पक्ष-प्रतिपक्ष ग्रहण द्वारा विवाद न हो, उसे निर्विवाद कहते हैं। इसकी निर्विवादिता इस बात से स्पष्ट है कि यह योग किसी का विरोधी नहीं है, बल्कि सभी विरुद्ध मतों का यह समन्वय प्रस्तुत करता है।[88]

सत्कार्यवाद-असत्कार्यवाद

सांख्यमतावलम्बी जो सत्कार्यवादी हैं, वे विद्यमान वस्तु की उत्पत्ति में विश्वास करते हैं। इसके विपरीत, वैशेषिक मत वाले असत्कार्यवादी अविद्यमान वस्तु की उत्पत्ति मानते हैं। इस प्रकार परस्पर-विरुद्ध भाषण करते हुए वे एक दूसरे पर विजय प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। पर उपर्युक्त दोनों मत ठीक नहीं है। उपर्युक्त दोनों मत ठीक क्यों नहीं है, इसका उत्तर देते हुए गौडपादाचार्य कहते हैं कि स्वयं असत्कार्यवादी सत्कार्यवाद का विरोध करते हुए कहते हैं कि कोई भी विद्यमान वस्तु इसलिए उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि वह आत्मा के समान पहले से ही विद्यमान है। इसी प्रकार सत्कार्यवादी असत्कार्यवाद का विरोध करते हुए कहते हैं कि शशशृंग के समान जो सदा अविद्यमान वस्तु है, उसका भी जन्म नहीं हो सकता। इस प्रकार वे दोनों परस्पर-विरुद्ध बोलते हुए वस्तुतः अद्वैतवादियों के **अजातवाद** का ही प्रतिपादन करते हैं।[89]

आगे गौडपाद कहते हैं कि विरोधियों द्वारा प्रकाशित अजातवाद का हम "एवमस्तु" कहकर सदा अनुमोदन करते हैं। हमारा उनके साथ कोई विवाद नहीं है। वेदान्त मत सभी विरुद्ध मतों का एक साथ समन्वय करता है। अतः, उसका किसी मत से कोई विरोध नहीं है।

अपने पक्ष को और अधिक पुष्ट करते हुए गौडपाद कहते हैं कि यदि अजन्मा आत्मतत्त्व की उत्पत्ति परमार्थतः स्वीकार कर ली जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि अमर वस्तु को मरणशील वस्तु के रूप में मानना पड़ेगा। पर यह बात सत्य के बिलकुल विपरीत है। लोक में अमर वस्तु कभी भी मरणशील नहीं हो सकती और उसी प्रकार मरणशील वस्तु अमर नहीं हो सकती क्योंकि कोई भी वस्तु अपने स्वभाव के विपरीत नहीं

---

88. मा० का० 4/2 अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम्॥
89. मा० का० 4/4 भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते॥

हो सकती।[90] हम जानते हैं कि सांसिद्धिकी योगियों की प्रकृति भूत तथा भविष्य किसी काल में विपरीत भाव को प्राप्त नहीं होती; ऊष्मता एवं प्रकाशता अग्नि की स्वाभाविकी प्रकृति कही जाती है क्योंकि वह भी कालान्तर व देशान्तर में व्यभिचरित नहीं होती, पक्षी आदि की आकाशगमन-रूप प्रकृति सहजा कही जाती है, उसी प्रकार प्रकृत रूप में जल का निम्न प्रदेश की ओर गमन अकृता प्रकृति है। जब सांसिद्धिकी, स्वाभाविकी, सहजा और अकृता नामक चार प्रकृतियाँ जो मिथ्याकल्पित और लौकिक हैं, अन्यथाभाव को प्राप्त नहीं होतीं तो भला अज स्वभाव वाली पारमार्थिक वस्तुओं में अमरत्वरूपा प्रकृति अन्यथाभाव को किस प्रकार प्राप्त हो सकती है?[91] इससे यही सिद्ध होता है कि सत्कार्यवाद एवं असत्कार्यवाद की अपेक्षा अजातवाद ही उपयुक्त सिद्धान्त है।

वस्तुवाद-विज्ञानवाद

वस्तुवाद की प्रतिज्ञा यह है कि बिना बाह्य निमित्त या कारण के किसी भी प्रज्ञप्ति या ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रज्ञान का विषय सदा प्रज्ञान से भिन्न होता है। जब सभी प्रतीतियों में विषय का होना अनिवार्य है तो कोई भी शब्दादि प्रतीति बिना विषय के कैसे हो सकती है? यदि बिना विषय के किसी प्रतीति को मान लिया जाय तो शब्द, स्पर्श, नील और लोहितादि प्रतीतियों में विचित्रता-रूप द्वैत का विनाश हो जायगा। प्रतीति में विचित्रता के नाश से द्वैताभाव का प्रसंग भी उपस्थित हो जायगा। पर हम साक्षात् प्रत्यक्ष द्वारा जानते हैं कि हमारी प्रतीतियों में विचित्रता है। इसी आधार पर कुछ दर्शनों में प्रज्ञान से पृथक् बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। यदि कोई कहे कि प्रज्ञान की यह विशेषता या विचित्रता नील-पीतादि बाह्य विषयों के बिना भी केवल उसके स्वभाव के कारण है तो यह सम्भव नहीं है। जिस प्रकार नील-पीतादि उपाधियों को आश्रय किए बिना स्वच्छ स्फटिक में विचित्रता नहीं आ सकती, उसी प्रकार स्वच्छ प्रज्ञान में नील, पीतादि बाह्य विषय रूप उपाधि के आश्रय बिना अनुभूतियों में विचित्रता सम्भव नहीं है।

ज्ञान से भिन्न बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व में इसलिए भी विश्वास किया जाता है कि अग्निदाहादि के निमित्त से ही दुःख उपलब्ध होता है। यदि विज्ञान से पृथक् दाहादि का निमित्त अग्न्यादि कोई बाह्य पदार्थ न होता तो दाहादिजन्य दुःख की प्रतीति कभी न होती। पर हम जानते हैं कि हमें इसकी प्रतीति होती है। अतः, विज्ञान से पृथक् बाह्य पदार्थ का

---

90. मा० का० 4/7 न भवत्यमृतंमर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति॥
91. मा० का० 4/9 सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या।
प्रकृतिः सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या॥

अस्तित्व अवश्य है जो हमारे भीतर दाहादिजन्य दुःख को उत्पन्न करता है ।[92]

वस्तुवाद का खण्डन

(1) अब वस्तुवाद का खण्डन करते हुए विज्ञानवादी कहता है कि बाह्य घटादि को प्रतीति-वैचित्र्य का निमित्त नहीं माना जा सकता क्योंकि परमार्थ-दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि घट का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है जिससे कि वह प्रतीति-वैचित्रय का कारण बन सके ।[93] जिस प्रकार तन्तु से पृथक् पट का और अंशु से पृथक् तन्तु का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार मृत्तिका से पृथक् घट का भी कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है । इसका भावार्थ यह है कि उत्तरोत्तर यथार्थ तत्त्व का दर्शन हो जाने पर बाह्य विषय नाम-रूप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ।

(2) बाह्य विषयों के पृथक् अस्तित्व का खंडन करने के लिए शंकराचार्य ने एक दूसरा भी तर्क प्रस्तुत किया है । जिस प्रकार रज्जु में कल्पित सर्प वस्तुतः अपनी प्रतीति का विषय नहीं है क्योंकि भ्रान्ति-काल में ही कल्पित सर्प और उसके ज्ञान का उदय होता है, उसी प्रकार परमार्थ-दर्शन हो जाने पर सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों को हम प्रतीति का विषय नहीं मान सकते । जिस प्रकार भ्रान्ति-ज्ञान का विषय प्रत्यय-वैचित्र्य का निमित्त नहीं है, अथवा स्वप्न-ज्ञान का विषय स्वप्न-प्रत्यय का कारण नहीं है, उसी प्रकार जागृत के विषय भी हमारे प्रत्यय-वैचित्र्य के निमित्त नहीं हैं । जिस प्रकार रज्जु से भिन्न सर्प का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार आत्मा से भिन्न किसी बाह्य पदार्थ का कोई अस्तित्व नहीं है । सच पूछा जाय तो प्रत्यय-वैचित्र्य और उसका प्रयोजक बाह्य विषय दोनों ही भ्रम-काल में ही प्रतीत होते हैं । भ्रम-निवारण के उपरान्त उनका कोई अस्तित्व नहीं रह जाता । भ्रम-निवारण से द्वैत-दर्शन एवं दुःख की प्रतीति, दोनों का ही एक साथ निवारण हो जाता है । तत्त्वदर्शियों को स्फुरण से भिन्न वस्तु का भाव होता नहीं दिखाई पड़ता ।[94]

(3) द्वितीय तर्क का निहितार्थ यह है कि ज्ञान-निमित्त रूप में बाह्य विषयों का कोई अस्तित्व नहीं है । जब बाह्य विषयों का कोई अस्तित्व ही नहीं है, तो चित्त उसका स्पर्श ही कैसे कर सकता है ? स्वप्न-चित्त के समान जागृत चित्त भी बाह्य आलम्बन के रूप में किसी बाह्य पदार्थ का स्पर्श नहीं करता । जिस प्रकार स्वप्न चित्त में चित्तत्व है और वह

---

92. मा० का० 4/24 प्रज्ञप्ते सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः ।
संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तिता मता ॥

93. शां० भा० 4/25—भूतदर्शनात्परमार्थदर्शनादित्येतत् ।

94. मा० का० 4/25 प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनात् ।
निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात् ॥

बाह्य विषय का स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार जागृत चित्त में भी चित्तत्व है, पर वह भी बाह्य विषयों का स्पर्श नहीं करता। इतना ही नहीं, बल्कि स्वप्न चित्त के समान जागृत चित्त अर्थाभास को भी ग्रहण नहीं करता। जिस प्रकार स्वप्न में पदार्थ के अभाव रहने पर भी केवल चित्त ही घटादि पदार्थ के समान भासित होता है, उसी प्रकार जागृतावस्था में भी घटादि विषय के न रहने पर भी घटादि पदार्थ के समान चित्त अब भासित होता है।[95]

(4) अब यहाँ हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि बाह्य विषयों का सर्वथा अभाव ही है तो चित्त को उनका ज्ञान ही कैसे प्राप्त होता है ? घट का तो संसार में कोई अस्तित्व ही नहीं है। अत:, हम यह भी नहीं कह सकते कि घट-संस्कार के कारण घट के न रहने पर भी हमें घट का ज्ञान होता है। शंकराचार्य के अनुसार इसका मूल कारण **अविद्या** है। पूर्व-पूर्व भ्रान्तिजन्य संस्कार से युक्त विज्ञान उत्तरोत्तर भ्रान्ति के प्रति कारण है।

बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन

ऊपर बौद्ध विज्ञानवादियों ने जो वस्तुवाद का खण्डन प्रस्तुत किया है, गौडपाद उसे पूरी तरह स्वीकार करते हैं। पर इससे अधिक वे बौद्ध विज्ञानवादियों की बात मानने के लिए तैयार नहीं है। **शून्यवादी बौद्धों** ने इस बात को भली-भाँति स्वीकार किया है कि दृश्य पदार्थों का जन्म नहीं होता। इस विषय में वे अजातवाद को मानते हैं। बौद्धों की यह बात भी गौडपाद को स्वीकार्य है। पर जब बौद्ध विज्ञानवादी यह कहते हैं कि चित्त दृश्य का भले ही जन्म न होता हो, पर चित्त का जन्म अवश्य होता है, यह बात गौडपाद को बिलकुल ही स्वीकार्य नहीं है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार चित्त-दृश्य उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार चित्त भी उत्पन्न नहीं होता। अजातवाद का सिद्धान्त दोनों पर समान रूप से लागू होता है। अत: जो विज्ञानवादी उस चित्त की उत्पत्ति देखते हैं एवं चित्त के क्षणिकत्व, दु:खित्व, शून्यत्व तथा अनात्मत्व में विश्वास करते हैं, वे निश्चय ही आकाश में पक्षी आदि के चरण-चिह्न देखने की कामना करते हैं।[96] क्षणिक चित्त के माध्यम से भला चित्त के स्वरूप को देखना कैसे सम्भव हो सकता है ?[97] जो शून्यवादी सर्वशून्यता को देखते हुए अपने दर्शन की शून्यता की भी प्रतिज्ञा करते हैं, वे तो उन विज्ञानवादियों से भी अधिक साहसी हैं जो क्षणिक चित्त में विश्वास करते हैं। वे मानों आकाश को मुट्ठी से ही पकड़ना

---

95. वही, 4/26 चित्तं न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च।
अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्तत: पृथक्॥
96. मा० का० 4/28 तस्मान्न जायते चित्तं चित्त दृश्यम् न जायते।
तस्य पश्चन्ति ये जातिं रवे वै पश्चन्ति ते पदम्॥
97. वही, शां० भा०, तेनैव चित्तेन चित्तस्वरूपं द्रष्टुम् अशक्यं पश्यन्त: रवे वै पश्चन्ति ते पदम् पक्ष्यादीनाम्॥

चाहते हैं।

अपने वेदान्त मत का उपसंहार करते हुए गौडपाद कहते हैं कि जिसका स्वभाव ही अजात है, उसके उत्पन्न और नष्ट होने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। विज्ञानवादियों द्वारा कल्पना की जाती है कि जो अजात ब्रह्मस्वरूप चित्त है; वहीं उत्पन्न होता है, साथ ही वे यह भी कहते हैं कि अजात उसका स्वभाव है। ऐसी परिस्थिति में उस अजात स्वभाव वाले चित्त का अन्यथा भावरूप जन्म किसी भी प्रकार सम्भव न होगा। वस्तुतः, यदि वह अजन्मा होता हुआ भी जन्म लेता है तो उसका जन्म पारमार्थिक न मानकर मायिक ही मानना पड़ेगा। अजाति उस चित्त का स्वभाव ही है और स्वभाव के विपरीत भाव किसी प्रकार भी नहीं हो सकता।[98]

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि यदि वस्तुतः अजातिवाद ही सत्य है और संसार में न तो किसी वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है और न उसका विनाश ही, तो संसार की वस्तुओं को हम सत्य रूप में क्यों विश्वास कर लेते हैं? इन प्रश्न के उत्तर में गौडपाद कहते हैं कि "उपलम्भात्" और "समाचारात्" ऐसे दो कारण हैं जिनके आधार पर अजातवाद के बावजूद हम संसार की वस्तुओं की यथार्थता में विश्वास कर लेते हैं। वास्तविक हाथी के समान माया से बना हाथी भी देखा जाता है क्योंकि वास्तविक हाथी के समान ही माया से बने हाथी के साथ भी बन्धन-आरोहणादि हस्ति-सम्बन्धी धर्मों के व्यवहार चलते हैं। उसी प्रकार **उपलब्धि** और **आचरण** के कारण भेदरूप द्वैत वस्तुओं के वास्तविक अस्तित्व को हम समझ लेते हैं। वे अव्यभिचरित वस्तुएँ नहीं हैं।[99]

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि द्वैत या नानात्व रूप संसार की वस्तुएँ असत् हैं तो फिर सत् क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में गौडपाद कहते हैं कि जिस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से देवदत्त पद का लक्ष्य चेतन, अजन्मा, अचल, अवस्तु, अद्रव्य होते हुए भी वह व्यावहारिक दृष्टि से उत्पन्न होता है, चलता है तथा गौर और दीर्घ है, ऐसा कहा जाता है, उसी प्रकार परमतत्त्व **अज, अचल** और **अवस्तु** होते हुए भी **जात्याभास, चलाभास** व **वस्त्वाभास** के रूप में प्रतीयमान होता है।[100]

वस्तुतः अज, अचल और अवस्तु होते हुए भी तत्त्व किस प्रकार जात्याभास,

---

98. मा० का०, 4/29 अजातं जायते यस्माद् अजातिः प्रकृतिस्ततः।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद् भविष्यति॥

99. मा० का० 4/44 उपलम्भात्समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते।
उपलम्भात्समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते॥

100. मा० का० 4/45 जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम्।

चलाभास और वस्त्वाभास के रूप में प्रतीयमान होता है, इसे आगे स्पष्ट करते हुए गौडपाद कहते हैं कि जिस प्रकार लोक में ऋजु (सीधा), वक्र (टेढ़ा) आदि रूप से भासित होने वाला अलातस्पन्द (उल्का-चक्र) अलात का ही भ्रमण है, उसी प्रकार संसार में हम जो विषय और विषय रूप में नाना प्रकार की वस्तुओं को देखते हैं, वे विज्ञान-स्पन्दन से भिन्न कुछ भी नहीं है।[101] जिस प्रकार अविद्या के कारण हम अलात-स्पन्दन को अलात् से पृथक् मान लेते हैं यद्यपि अलात् से पृथक् उनका कोई अस्तित्व नहीं होता, उसी प्रकार अज्ञान के कारण हम सांसारिक वस्तुओं को विज्ञान से पृथक् समझ लेते हैं यद्यपि वस्तुतः विज्ञान से पृथक् उनका कोई अस्तित्व नहीं होता। इसका दूसरा पक्ष भी उतना ही सही है। जिस प्रकार अलात्, स्पन्दन क्रिया से रहित होने पर वह ऋजु, वक्र इत्यादि रूपों में भासित नहीं होता, उसी प्रकार अविद्या के कारण स्पन्दित होने वाला विज्ञान अविद्या से निवृत्त होने पर जाति-मरण रूप से स्पन्दित न होता हुआ अज और अचल हो जाता है।[102] अतः, निश्चल और निरवयव विज्ञान के जात्यादि रूप से प्रतीत होने में अविद्या ही एक मात्र कारण है।

ज्ञेय और विज्ञेय

गौडपादाचार्य ने माण्डूक्यकारिका में तीन प्रकार के ज्ञेय एवं चतुर्थ विज्ञेय पदार्थ की ओर संकेत किया है। ज्ञेय वस्तुएँ निम्न हैं : स्थूल लौकिक, शुद्ध लौकिक एवं लोकोत्तर। विज्ञेय वस्तुओं को उन्होंने परमार्थ तत्त्व के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित किया है। इनका नीचे क्रमशः वर्णन किया जाता है—

1. **स्थूल लौकिक वस्तुएँ**—जिन वस्तुओं के भीतर **सद्वृत्ति** एवं **उपलब्धि** दोनों विशेषताएँ पाई जाती हैं, उन्हें स्थूल लौकिक कहा जाता है। इन वस्तुओं में ग्राह्य-ग्रहण द्वैत पाया जाता है। इन्हें स्थूल लौकिक इसलिए कहा जाता है कि इसकी वस्तुएँ स्थूल एवं लोकव्यवहार के निकट होती हैं। जागृत अवस्था की सभी वस्तुएँ स्थूल लौकिक कही जाती हैं।

2. **शुद्ध लौकिक वस्तुएँ**—जिन वस्तुओं में **उपलब्धि** तो पाई जाती हो पर सद्वृत्ति का अभाव हो, उन्हें शुद्ध लौकिक कहा जाता है। इस अवस्था में वस्तु के अभाव रहने पर भी उपलब्धि पाई जाती है। इसमें भी ग्राह्य-ग्रहण द्वैत पाया जाता है। स्वप्नावस्था की वस्तुएँ

---

101. मा० का० 4/47 ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा॥

102. मा० का० 4/48 अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा।
अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा॥

शुद्ध लौकिक होती हैं क्योंकि वहाँ वस्तु के अभाव में भी प्राणियों को वस्तुओं की उपलब्धि होती है।[103]

3. **लोकोत्तर वस्तु**—उपर्युक्त दोनों वस्तुओं से भिन्न जिस वस्तु में सद्वृत्तित्व एवं उपलब्धि दोनों विशेषताएँ नहीं पाई जाती हैं, उसे लोकोत्तर कहा जाता है। इसमें ग्राह्य ग्रहण द्वैत भी नहीं पाया जाता। जिस अवस्था में ग्राह्य-ग्रहण द्वैत का अभाव हो, वह लोकोत्तर अवस्था है, पर जहाँ ग्राह्य-ग्रहण का भाव हो, वह लौकिक अवस्था है। सुषुप्तावस्था ऐसी ही अवस्था है जिसमें ग्राह्य-ग्रहण का द्वैत बिलकुल ही नहीं पाया जाता।[104]

4. **तुरीय वस्तु**—गौडपाद ने स्थूल लौकिक, शुद्ध लौकिक एवं लोकोत्तर वस्तुओं से पृथक् एक चौथी सत्ता की ओर संकेत किया है जो परमार्थ सत्य, तुरीय नामक अद्वय, अजन्मा आत्मतत्व है। वही एक मात्र **विज्ञेय तत्त्व** है और प्रथम तीन केवल ज्ञेय वस्तुएँ हैं। इसमें हम चैतन्य की तुरीयावस्था में ही जान सकते हैं।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि यद्यपि गौडपाद प्रथम तीन प्रकार की वस्तुओं को 'ज्ञेय' के नाम से अभिहित करते हैं, पर बाद में उनके लिए केवल एक ही वस्तु ज्ञेय रह जाती है जो सत्य ब्रह्मस्वरूप है। प्रथम उन्होंने "ज्ञेय" और "विज्ञेय" के बीच भेद स्थापित किया और कहा कि जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति की वस्तुएँ ज्ञेय हैं तथा तुरीय विज्ञेय है। पुनः, उन्होंने "हेय" और "ज्ञेय" के बीच भेद स्थापित किया जिसके अनुसार जागृत स्वप्न और सुषुप्ति की स्थूल लौकिक, शुद्ध लौकिक एवं लोकोत्तर वस्तुएँ रज्जु-सर्प के समान कल्पित होने के कारण हेय या त्याज्य हैं तथा पूर्व तीन वस्तुओं से अतीत परमार्थ तत्त्व ही एक मात्र ज्ञेय वस्तु है। हेय और ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञान के साथ आप्य अर्थात् ज्ञेय वस्तु की प्राप्ति के साधन-रूप श्रवण-रूप पाण्डित्य, मननरूप बाल्य एवं निदिध्यासन-रूप मौन का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। हेय, ज्ञेय और आप्य के साथ राग, द्वेष, मोह, लोभ इत्यादि **पाक्य** (पकाने योग्य) कषायों का भी मुमुक्षु को ज्ञान होना चाहिए। इन सबका भावार्थ यह है कि हेय, आप्य व पाक्य इन तीनों अवस्थाओं को ब्रह्मवेत्ताओं ने केवल उपलम्भन

---

103. मा० का० 4/87 सवस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकमिष्यते।
अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिकमिष्यते॥

104. वही, 4/88 अवस्त्वनुपलम्भं च लोकोत्तरमिति स्मृतम्।
ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेयं सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम्॥

अथवा अविद्यामय कल्पना मात्र ही स्वीकार किया है। केवल परमार्थ तत्त्व ही एक मात्र सद्वस्तु है।[105]

तत्त्व-ज्ञान

जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने तत्त्व-साक्षात्कार के लिए विभिन्न प्रकार के अधिकारियों—श्रावक, प्रत्येक बुद्ध एवं बोधिसत्व के लिए उनकी योग्यता के अनुसार विभिन्न प्रकार के मार्गों की संस्तुति की थी, उसी प्रकार गौडपाद ने निकृष्ट, मध्यम और उत्कृष्ट इन तीन प्रकार के अधिकारियों के लिए तीन विभिन्न मार्गों का उपदेश दिया है। इनमें निकृष्ट एवं मध्यम अधिकारियों के लिए कर्म और उपासना का मार्ग तथा उत्तम अधिकारी के लिए ज्ञानमार्ग का उपदेश दिया है।[106] पर ज्ञान-मार्ग का अर्थ बुद्धि-मार्ग नहीं है, क्योंकि गौडपाद के अनुसार बुद्धि तत्त्व-साक्षात्कार कराने में सदा असमर्थ है। बुद्धि अस्ति, नास्ति इत्यादि चार कोटियों के द्वारा परम तत्त्व को आवृत्त कर रखे हैं। जब तक हम इन कोटियों का अतिक्रमण नहीं कर लेते, तब तक हमें परम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता।[107] इन कोटियों के अतिक्रमण से ही हमें सर्वज्ञता प्राप्त होती है।

अब प्रश्न यह है कि हम इन चार कोटियों से अतीत किस प्रकार हो सकते हैं? इसके उत्तर में गौडपाद कहते हैं कि बुद्धि की कोटियों से अतीत होने का एक मात्र उपाय मन और बुद्धि का निरोध या अमनीभाव है।[108] यह अस्पर्शयोग द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। बड़े-बड़े योगियों द्वारा भी अस्पर्शयोग दुष्कर है। इससे लोग भयभीत होते हैं, पर वास्तव में वहाँ कोई भय नहीं है।[109] मन का पूर्ण नियन्त्रण अभय-पद की प्राप्ति की एक मात्र कुंजी है। इसके लिए धैर्य की महती आवश्यकता

---

105. मा० का० 4/90 हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयाणतः।
तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषुस्मृतः॥
106. मा0 का0 3/16 आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्ट दृष्टयः।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया।
107. वही, 4/84 कोट्यश्चतत्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदाऽऽवृतः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्॥
108. वही, 3/31 मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावै द्वैतं नैवोपलभ्यते॥
109. मा० का०, 3/39 अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो विभ्यति हयस्मादभये भयदर्शिनः॥

होती है। अभ्यास और वैराग्य द्वारा काम और भोग रूप विषयों में विक्षिप्त चित्त का निग्रह करना चाहिए। निग्रह की अवस्था को लय कहते हैं। लयावस्था में अत्यन्त आयास रहित चित्त का भी निरोध करना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार काम अनर्थ का कारण है, उसी प्रकार लय भी अनर्थ का कारण होता है। ज्ञानाभ्यासादि उपायों से निग्रह किया हुआ चित्त जब सुषुप्ति में लीन नहीं होता और न पुनः विषयों में ही विक्षिप्त होता है, उस समय चित्त ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है।[110] जो सदा अविद्या-कल्पित भेद में विचरण करने वाले हैं, उन्हें **वैशारद्य** (विशुद्धता) की प्राप्ति नहीं हो सकती। भेद की ओर ही प्रवृत्त होने के कारण भेदवादी कृपण व दीन माने गए है।[111] आत्मा स्वभाव से ही अत्यन्त उपरत, सम और अभिन्न है।

---

110. वही, 3/46 यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।
अनिंगनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥
111. वही, 4/94 वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा ।
भेदनिम्नाः पृथग्वादास्तस्माते कृपणाः स्मृताः ॥

द्वितीय अध्याय

शांकर अद्वैत वेदान्त

शंकराचार्य

अद्वैत वेदान्त के प्रस्थान-त्रयी ग्रन्थों के भाष्यकारों में शंकराचार्य का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है। इनका जन्म 788 ई० तथा निर्वाण 820 ई० है। अपनी अद्‌भुत प्रतिभा के कारण इन्हें साक्षात् भगवान शिव का अवतार माना जाता है। इनका जन्म केरल प्रान्त के कालड़ी नामक ग्राम नम्बुदरि ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता श्री शिवगुरु वेदज्ञ ब्राह्मण थे। इन्होंने सात वर्ष की आयु में ही वेदों का अध्ययन सम्पन्न किया। आठ वर्ष की आयु में वे संन्यासी हो गए। बाद में वे गौडपाद के शिष्य श्री गोविन्दपाद के शिष्य बने। सोलहं वर्ष की अवस्था में वदरिकाश्रम में उन्होंने ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता आदि पर भाष्य लिखा और 32 वर्ष की अल्पायु में ही उनका निर्वाण हो गया। इनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध लोकोक्ति है :

"अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान भाष्यं द्वात्रिंशेमुनिरम्यगात्।"

इतने अल्पकाल में ही शंकराचार्य ने वैदिक संस्कृति के उद्धार के लिए जो कार्य किया, वह अद्वितीय और अभूतपूर्व है। उन्होंने सम्पूर्ण भारत में भ्रमण कर नास्तिकों एवं अन्य मतावलम्बियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया और वेदान्त मत की प्रतिष्ठा की। शंकर की अलौकिक प्रतिभा से प्रभावित होकर अनेक विद्वानों ने इनकी शिष्यता स्वीकार की। इनके समकालीन मण्डन मिश्र जो पहले मीमांसक थे, शंकर से प्रभावित होकर वेदान्ती बने। उन्होंने अपने चार शिष्यों सुरेश्वर, पद्मपाद, त्रोटक और हस्तमलक को अपने द्वारा स्थापित चार मठों पर प्रतिष्ठित किया।

वैसे शंकराचार्य के नाम से अनेक ग्रन्थ प्रचलित हैं, किन्तु उनमें से केवल तेरह ग्रन्थ ही उनके द्वारा रचित हैं। शारीरक भाष्य के अतिरिक्त उनके अन्य ग्रन्थ हैं, गीता भाष्य, उपदेश-साहस्री तथा दस उपनिषदों पर भाष्य। बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, ईश, कठ, केन, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य कारिका सहित माण्डूक्य उपनिषद् पर उनके भाष्य हैं। शंकराचार्य के शिष्य पद्मपादाचार्य ने सर्वप्रथम शांकर भाष्य पर 'पञ्चपादिका' वृत्ति लिखी। पञ्चपादिका पर प्रकाशात्मयति की 'विवरण' टीका प्रसिद्ध है। इनके नाम पर विवरण-प्रस्थान ही बन गया। विवरण की दो टीकाएँ हैं, अखण्डानन्द सरस्वती का

'तत्त्वप्रदीप' तथा विद्यारण्य का 'विवरण-प्रमेय-संग्रह'। द्वितीय भामती प्रस्थान है। भामती टीका के रचयिता वाचस्पति मिश्र है। भामती पर दो प्रसिद्ध टीकाएँ हैं, अमलानन्द की 'कल्पतरु' टीका तथा अप्पदीक्षित की 'परिमल' टीका। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त श्री हर्ष का खण्डन-खण्ड-खाद्य, चित्सुख की तत्त्व-प्रदीपिका तथा मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि अद्वैत वेदान्त के स्वतन्त्र और गम्भीर ग्रन्थ हैं। इन्हें कठिनत्रयी कहा जाता है। इनके अतिरिक्त आनन्दबोध का न्यायमकरन्द तथा अप्पयदीक्षित का सिद्धान्त-लेश-संग्रह अद्वैत वेदान्त के मानक ग्रन्थ हैं। विद्यारण्य की पंचदशी, सदानन्द का वेदान्तसार और धर्मराजाध्वीन्द्र की वेदान्त परिभाषा अद्वैत वेदान्त के प्रचलित ग्रन्थ हैं जिनसे वेदान्त का प्राथमिक और प्रामाणिक परिचय प्राप्त किया जाता है।

अद्वैत वेदान्त में पूर्व दर्शनों के विभिन्न मतों का तर्क द्वारा खण्डन

बादरायण, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य इत्यादि वेदान्तियों ने तर्क द्वारा भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों के विभिन्न मतों का बड़ी सफलतापूर्वक खण्डन किया है तथा अपने-अपने दर्शन की स्थापना की है। यद्यपि वेदान्ती स्वीकार करते हैं कि केवल तर्कशास्त्र की सामान्य युक्तियों से किसी सिद्धान्त को सिद्ध करना तथा दूसरे सिद्धान्तों का खण्डन करना वेदान्त का प्रयोजन नहीं है, तथापि स्वपक्ष की पूर्ण सिद्धि तब तक नहीं हो सकती जब तक कि परपक्ष के मतों को भ्रान्तिमूलक सिद्ध न कर दिया जाय। परपक्ष के मतों को दोषपूर्ण सिद्ध करने के लिए तथा स्वपक्ष के मतों के यथार्थ तथा प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने पूर्वमतों का सुतर्क द्वारा खण्डन प्रस्तुत किया है। बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र[1] में तथा शंकराचार्य ने अपने शारीरिक भाष्य में परमतों का बड़ी विदग्धता के साथ निरसन किया है। यह निरसन श्रुति को आधार बनाकर नहीं, वरन् स्वतन्त्र तर्क-बुद्धि से किया गया है। इनके द्वारा प्रस्तुत युक्तियों का आधार श्रुतियाँ भले ही न हों, पर युक्तियाँ अनुभव के ठोस धरातल पर विद्यमान हैं। यही उनकी विशेषता है। तत्त्वनिर्णय के लिए परपक्ष का खण्डन द्वेष नहीं है। भ्रान्तिमूलक मार्ग का अनुसरण करने वाले मन्दबुद्धि वालों को उस मार्ग से हटाकर यथार्थ मार्ग पर लाना ही श्रेयस्कर होता है। अतः भ्रान्तिमूलक परपक्ष का खण्डन उचित ही है।

1. सांख्य मत का खण्डन

बादरायण एवं शंकराचार्य सर्वप्रथम सांख्य मत, विशेषकर उसके प्रधान-कारणवाद का खण्डन प्रस्तुत करते हैं। खण्डन करने के पहले यह जानना आवश्यक है कि सांख्य का

---

1. ब्रह्मसूत्र, 2, 2, 1-45।

प्रधान-कारणवाद है क्या ?

पूर्वपक्ष—सांख्य के अनुसार प्रकृति या प्रधान से ही जगत् की उत्पत्ति हुई है। नियम यह है कि जो कार्य जिनसे अन्वित होते हैं उस उपादान कारण से उत्पन्न होते हैं। जगत्‌रूप कार्य त्रिगुणात्मक है, अतः कारण भी त्रिगुणात्मक होना चाहिए। 'विकारों के परिमाण से, समन्वय से, शक्ति की प्रवृत्ति से, और कारण से विचित्र कार्य के विभाग और अविभाग से प्रधान सिद्ध होता है।'[2] जगत् या सृष्टि के कारण प्रधान की सिद्धि के लिए वे एक दूसरा भी तर्क प्रस्तुत करते हैं, 'पृथ्वी आदि विकारों का कारण अव्यक्त है, क्योंकि वे घटादि के समान परिमित है।'[3] जिस प्रकार घटादि कार्यों की मृतिका रूप कारण शक्ति से प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार महद्, अहंकार इत्यादि विकारों की भी कारण शक्ति से प्रवृत्ति होनी चाहिए। वह शक्तियुक्त कारण प्रधान है। कारण से विचित्र कार्य की उत्पत्ति होती है। मृत्तिका से घटादि की उत्पत्ति होना विभाग है, पर घटादि की मृत्तिका रूप कारण में लीन होना अविभाग है। विश्व की एकता प्रधान कारण की ओर संकेत करती है। अतः, सांख्य के अनुसार अव्यक्त प्रधान जगत् का कारण है।

उत्तर पक्ष—अब वेदान्ती सांख्य के प्रधान-कारणवाद का खण्डन करते हैं। बादरायण ने अनेक सूत्रों द्वारा इस मत का खण्डन किया है। इन पर क्रमशः हम विचार करेंगे—

1. **रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्, 2, 2, 1**—अनुमान या प्रधान से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि जगत् का उपादान कारण प्रधान मान लिया जाय तो घट आदि दृष्टान्तों में साध्य अप्रसिद्ध हो जायगा, क्योंकि मृत्तिका आदि चेतनों से अधिष्ठित होकर ही घट आदि कार्यों के उपादान होते हैं। गृह, घट इत्यादि कार्यों में विचित्रता चेतन बुद्धिमान शिल्पियों द्वारा ही सम्भव होती है, अचेतन कारण द्वारा नहीं।[4] सृष्टि में हमें जो व्यवस्था, क्रम, समन्वय, नियम तथा विधान दिखाई देता है, वह अचेतन प्रधान द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसके लिए चेतन कारण की ही आवश्यकता होती है। ईश्वर से

---

2. सांख्यकारिका, 15, भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कार्यकारण विभागादविभागाद्वैश्व रूप्यस्य ॥

3. क्षित्यादीनां भेदानां कारणमव्यक्तमस्ति, परिमितत्वात्, घटवत् ॥

4. विचित्ररचनात्मकंकार्य चेतनाधिष्ठिता चेतनप्रकृतिकं, कार्यत्वात्, गृहादिवत्।

अधिष्ठित अनादि त्रिगुणात्मक माया जगत् का उपादान कारण होती है, स्वतन्त्र अचेतन प्रकृति जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकती।

2. **प्रवृत्तेश्च** 2, 2, 2—सूत्रार्थ यह है कि अचेतन प्रधान की साम्यावस्था की प्रच्युति-रूप प्रवृत्ति चेतन के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता। अर्थात् प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होने से प्रधान जगत् का कारण नहीं है।[5] गुणों की प्रवृत्ति चेतनाधिष्ठानपूर्वक होती है, क्योंकि रथादि प्रवृत्ति के समान यह भी प्रवृत्ति है।[6] दृष्ट के आधार पर ही अदृष्ट की सिद्धि की जाती है।[7] यदि यह कहा जाय कि जो प्रवर्त्तक है, वह स्वरूप से प्रवृत्तिमान है, जैसे अश्वादि।[8] इस प्रकार आत्मा में व्यापक प्रवृत्तिमत्व के न होने से व्याप्त प्रवर्तकत्व भी नहीं है, अर्थात् आत्मा प्रवृत्तिरहित होने से प्रवर्त्तक नहीं है। अतः, यह कहा जा सकता है कि अचेतन की प्रवृत्ति चेतन से न होकर स्वयं अपनी है। इसके समाधान के लिए वेदान्ती कहते हैं कि जो प्रवर्तक होता है, उसके लिए कोई आवश्यक नहीं है कि वह भी प्रवृत्तियुक्त हो। इस व्याप्ति का अयस्कान्तमणि एवं रूप में व्यभिचार है1 अयस्कान्तमणि (लौह-चुम्बक) प्रवृत्तियुक्त न होते हुए भी प्रवर्तक होता है। रूप प्रवृत्तियुक्त न होते हुए भी चक्षुओं को प्रेरित करता है। अतः, ईश्वर प्रवृत्तियुक्त न होते हुए भी माया को प्रेरित कर सकता है।

3. **पयोम्बुवच्चेत्तथापि** 2, 2, 3—सांख्य कहता है कि जिस प्रकार दूध बछड़े के पोषण के लिए स्वयं प्रवृत्त होता है तथा जल स्वयं ऊपर से नीचे गतिमान होता है, उसी प्रकार प्रधान जड़ होते हुए भी प्रवृत्तिमान होकर रचना का कार्य करना है। वेदान्तियों के अनुसार यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि चेतनाधिष्ठित दूध और जल में ही प्रवृत्ति देखी जाती है। दूध और जल में स्वतः प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। चेतन गौ-स्नेह-इच्छा से दूध का प्रवर्तक हो सकती है तथा बछड़े को चोषण से दूध आकर्षित किया जाता है। जल को भी वहन-प्रक्रिया से निम्नभूमि की आवश्यकता होती है जिसे चेतन प्राणी व्यवस्थित करता है। इन दृष्टान्तों से चेतन की सर्वत्र अपेक्षा दिखाई देती है। अतः, दूध और जल का जो दृष्टान्त सांख्य ने दिया है, वह प्रधानकारणवाद की स्थापना न कर चैतन्यकारणवाद की स्थापना करता है।

4. **व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्** 2, 2, 4—प्रधान से भिन्न कर्म आदि सहकारी

---

5. प्रवृत्तेश्चानुपपत्तेर्नानुमानं कारणम्।
6. गुणानां प्रवृत्तिः चेतनाधिष्ठानपूर्विका, प्रवृत्तित्वात्, रथादिप्रवृत्तिवत्॥
7. दृष्टाच्यादृष्टसिद्धिः।
8. यः प्रवर्त्तकः स स्वयं प्रवृत्तिमान्, अश्वादिवत्।

न होने से और पुरुष के असंग होने के कारण अचेतन प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता। सांख्य के अनुसार सत्व, रज और तम इन तीनों की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहा जाता है। उससे भिन्न प्रधान का प्रवर्तक अथवा निवर्तक कोई अन्य बाह्य तत्त्व नहीं है। यदि यह कहा जाय कि बहुत से पुरुषों का अस्तित्व है जो प्रकृति को प्रवर्तित करते हैं, तो यह ठीक नहीं है। पुरुष तो अनपेक्ष या उदासीन है। वह प्रकृति का न तो प्रवर्तक हो सकता है और न निवर्तक। हाँ ! ईश्वर जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और महामायामय है, वह प्रकृति की प्रवृत्ति और निवृत्ति का कारण हो सकता है।

5. **अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्** 2, 2, 5—तृण आदि के समान प्रधान का भी स्वभाव से ही परिणाम नहीं हो सकता, क्योंकि अन्यत्र तृणादि से दूध का परिणाम देखने को नहीं मिलता। इस सूत्र का भावार्थ यह है कि जिस प्रकार तृण, पल्लव, उदक आदि अन्य निमित्त की इच्छा किए बिना ही क्षीररूप में परिणत हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रधान भी बिना किसी अन्य निमित्त की सहायता के महदादि रूप में परिणत हो जायगा। इस तर्क के विरुद्ध वेदान्ती कहते हैं कि क्षीर तृणादि का स्वाभाविक परिणाम नहीं हैं, क्योंकि इसके लिए अन्य निमित्त की उपलब्धि है। धेनु से ही उपयुक्त तृण आदि क्षीर के रूप में परिणत होता है, नष्ट हुआ अथवा बैल आदि से खाया गया तृणादि क्षीर रूप में परिणत नहीं होता।[9] इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार क्षीर तृण का स्वाभाविक परिणाम नहीं है, उसी प्रकार जगत् प्रधान का स्वाभाविक परिणाम नहीं हो सकता।

6. **अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्** 2, 2, 6—यदि प्राक्कल्पना रूप में प्रधान की स्वतः प्रवृत्ति मान भी ली जाय तो इससे दोष का निराकरण नहीं होगा, क्योंकि प्रकृति या प्रधान का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। प्रधान की प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं हो सकती, क्योंकि इससे सांख्य का यह कथन कि प्रधान पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए प्रवृत्त होता है, अयथार्थ हो जायगा। इससे सिद्ध हुआ कि प्रधान का कोई प्रयोजन अवश्य है। यह प्रयोजन या तो भोग होगा, या मोक्ष होगा, अथवा भोग और मोक्ष दोनों होगा। यदि भोग को प्रयोजन मान लिया जाय तो सुख आदि आधान तथा अतिशय से रहित पुरुष का भोग किस प्रकार सम्भव होगा तथा मोक्षाभाव का प्रसंग भी उपस्थित होगा।[10] यदि मोक्ष को प्रयोजन मान लिया जाय तो प्रवृत्ति के पूर्व भी मोक्ष के सिद्ध होने से प्रवृत्ति निष्फल होगी तथा शब्दादि की अनुपलब्धि का प्रसंग उपस्थित हो जायगा।[11] दोनों को प्रयोजन मानने

---

9. शांकर भाष्य, 2, 2, 5, धेन्वैवह्युपभुक्तं तृणादि क्षीरी भवति न प्रहीणमन डुहाद्युपभुक्तं वा।
10. शांकर भाष्य, अनाधेयातिशयस्य पुरुषस्य भोगोभवेत् अनिर्मोक्ष प्रसंगश्च।
11. वही, अपवर्गश्चेत्प्रागपि प्रवृत्तेरपवर्गस्य सिद्धत्वात्प्रवृत्तिरनर्थिका स्यात्। शब्दाद्यनुपलब्धि प्रसंगश्च।

पर भोग के योग्य प्रधान तन्मात्राओं के अनन्त होने से मोक्ष के अभाव का प्रसंग आ जायगा।[12] उत्सुकता (इच्छा) की निवृत्ति के लिए भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अचेतन प्रधान में उत्सुकता सम्भव नहीं है एवम् निर्मल, निष्फल पुरुष में भी उत्सुकता नहीं हो सकती।[13] यदि यह कहा जाय कि पुरुष में दृकशक्ति (द्रष्टा-रूप) की स्वाभाविक योग्यता है तथा प्रधान में सर्ग शक्ति (सृष्टि) की स्वाभाविक योग्यता है, अतः उनके भीतर इन क्रियाओं के लिए स्वाभावित प्रवृत्ति है तो दृक्शक्ति के अनुच्छेद (नित्य) के समान सर्ग-शक्ति के अनुच्छेद होने के कारण मोक्षाभाव प्रसंग उपस्थित होगा। अतः, प्रत्येक दृष्टि से यही सिद्ध होता है कि प्रधान के भीतर उद्देश्यमूलक प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

7. **पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि** 2, 2, 7—जैसे दृक्शक्तिसम्पन्न किन्तु प्रवृत्ति-गमन शक्तिरहित कोई पंगु पुरुष, प्रवृत्ति शक्तिसम्पन्न किन्तु, दृक्शक्तिविहीन अन्य अन्धपुरुष के कंधे पर बैठकर उसे प्रवृत्त करता है, अथवा जैसे अयस्कान्तमणि स्वयं अप्रवृत्त होते हुए भी लोहे को प्रवृत्त करता है, उसी प्रकार पुरुष भी प्रधान को सृष्टि के लिए प्रवृत्त करता है, ऐसा सांख्य कहता है। पर यह भी दोषपूर्ण है। प्रथम दोष यह है कि इसमें 'प्रधान की स्वतन्त्र प्रवृत्ति होती है', इसे अस्वीकार किया गया है। द्वितीय दोष यह है कि यदि पुरुष उदासीन है तो वह प्रधान को किस प्रकार प्रवृत्त कर सकता है? पंगु पुरुष भी अन्धपुरुष को वाणी से प्रवृत्त करता है, पर यहाँ निष्क्रिय और निर्गुण पुरुष में कोई प्रवृत्तिजनक व्यापार नहीं है। प्रकृति भी चेतन नहीं है जो पुरुष के निर्देश को समझ कर व्यापार करे। तृतीय, हम यह भी नहीं कह सकते कि जिस प्रकार अयस्कान्तमणि संनिधिमात्र से लोहे को प्रवृत्त करता है, उसी प्रकार पुरुष भी केवल संनिधि से ही प्रधान को प्रवृत्त करता है, क्योंकि यदि संनिधि नित्य है तो सृष्टि भी नित्य हो जायगी और मोक्ष असम्भव हो जायगा। दूसरी बात यह है कि अयस्कान्तमणि एवं लोहे की संनिधि नित्य न होकर अनित्य ही होती है। इस प्रकार अयस्कान्तमणि एवं पंगु पुरुष की उपमा ठीक नहीं है। चतुर्थ दोष यह है कि प्रधान को अचेतन और पुरुष को उदासीन मानने के कारण दोनों के बीच सम्बन्ध कराने वाले तीसरे तत्त्व के अभाव के कारण सम्बन्ध की अनुपपत्ति होगी। पंचम दोष यह है कि यदि उनकी योग्यतानिमित्तक सम्बन्ध स्वीकार करें तो योग्यता के नित्य होने से मोक्षाभाव प्रसंग उपस्थित हो जायगा। अतः, सांख्य दर्शन के पुरुष की अपेक्षा मायाशक्ति सम्पन्न ईश्वर

12. शांकर भाष्य, उभयार्थताभ्युपगमेऽपि भोक्तव्यानां प्रधानमात्राणामानन्त्याद-निर्मोक्ष प्रसंग एव।
13. वही, न चौत्सुक्यनिवृत्यर्था प्रवृत्तिः। नहि प्रधानस्याचेतनस्यौत्सुक्यं संभवति। न च पुरुषस्य निर्मलस्य निष्कलस्यौत्सुक्यम्।

कहीं श्रेयस्कर है, क्योंकि ईश्वर स्वरूप से उदासीन पर माया के आश्रय से प्रवर्तक है।

8. **अंगित्वानुपपत्तेश्च** 2, 2, 8—गुणों के अगांगिभाव की अनुपपत्ति होने से भी प्रधान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। गुणों की साम्यावस्था को ही प्रधान कहा जाता है।[14] गुणों के भीतर दो प्रकार के परिणाम होते हैं, प्रथम सरूप परिणाम और द्वितीय विरूप परिणाम। सरूप परिणाम में सभी गुण स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं और उनके बीच अंगांगि सम्बन्ध नहीं होता। अत:, ऐसी स्थिति में सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ ही नहीं हो सकती। प्रधान के अतिरिक्त ऐसा कोई बाह्य तत्त्व भी नहीं है जो गुणों के भीतर क्षोभ को उत्पन्न कर विरूप परिणाम को सम्भव बना सके। अत: प्रधान द्वारा सृष्टि असम्भव है।

9. **अन्यथानुमित्तौ च ज्ञशक्तिवियोगात्** 2, 2, 9—गुणों के चल और सक्रिय होने के कारण यदि मान भी लिया जाय कि साम्यावस्था में भी उनमें गुण-वैषम्य की प्राप्ति हो सकती है तथा अङ्गाङ्गि सम्बन्ध की भी स्थापना की जा सकती है, पर ऐसा अनुमान करने पर भी प्रधान में ज्ञानशक्ति का अभाव होने से रचना-अनुपपत्ति-दोष पूर्ववत् रह जाता है। यदि सांख्य यह कहे कि नहीं, प्रधान में ज्ञानशक्ति पाई जाती है तो इसका अर्थ यह होगा कि एक ब्रह्म से प्रपञ्च जगत् उत्पन्न हो सकता है।[15] यदि साम्यावस्था में भी गुणों के वैषम्य की प्राप्ति होती है तो उसके लिए पर्याप्त कारण होना चाहिए। यदि बिना पर्याप्त कारण के ही वैषम्य की प्राप्ति मानी जाय तो सृष्टि नित्य हो जायगी और मोक्ष का प्रसंग नहीं होगा। अत:, प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता।

10. **विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्** 2, 2, 10—शंकराचार्य कहते हैं कि सांख्य वाले कभी सात इन्द्रियों का वर्णन करते हैं और कभी ग्यारह इन्द्रियों की बात करते हैं। इसी प्रकार सांख्य लोग कहीं महद् से तन्मात्राओं की उत्पत्ति मानते हैं तो कहीं अहंकार से। कभी तो वे तीन प्रकार की आन्तरिक इन्द्रियों की चर्चा करते हैं और कभी केवल एक की। वे श्रुतियों की भी अवहेलना करते हैं जो बताती हैं कि ईश्वर ही जगत् का कारण है, 'प्रधान' कारण नहीं है।

इस प्रकार परस्पर-विरुद्ध मतों के प्रतिपादन करने से सांख्य मत स्वीकार्य नहीं हो सकता।

2. वैशेषित मत का खण्डन

वैशेषिक मत का खण्डन करने के पूर्व हमें यह जान लेना चाहिए कि वैशेषिक मत है क्या?

---

14. गुणानाम् साम्यावस्था प्रकृतिः।
15. चेतनमेकमनेक प्रपञ्चस्य जगत् उपादानमिति ब्रह्मवादप्रसंगात्।

पूर्व पक्ष—वैशेषिक दर्शन के अनुसार अचेतन परमाणुओं से सृष्टि की रचना हुई है। संसार के सभी कार्यद्रव्य चार प्रकार के परमाणुओं (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) से बनते हैं। पाश्चात्य परमाणुवाद की तरह वैशेषिक परमाणु न तो स्वतः सक्रिय है और न आकस्मिक संयोग के फलस्वरूप संसार का निर्माण करते हैं। प्रलयकाल में सभी परमाणु निश्चय और असंयुक्त होते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर जीवों के कर्मों (अदृष्ट) के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिए परमाणुओं की क्रियाओं को प्रवर्तित करता है। उसी की इच्छा से सृष्टि और प्रलय होते हैं। परमाणुओं में गति उत्पन्न होने पर उनके बीच संयोग स्थापित होता है। परमाणु **सूक्ष्म** और **परिमण्डल** होते हैं। दो ऐसे परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक का निर्माण होता है जो सूक्ष्म और परिमण्डल न होकर **अणु** एवं **ह्रस्व** परिमाण वाले होते हैं। इसी प्रकार ऐसे तीन द्वयणुकों से मिलकर त्रयणुक का निर्माण होता है जो अणु और ह्रस्व परिमाण वाले न होकर **महत्** और **दीर्घ** परिमाण वाले होते हैं। त्रयणुक ही हमारे प्रत्यक्ष के विषय होते हैं, क्योंकि इनमें उद्भूत रूप और महत् परिमाण दोनों पाया जाता है जो प्रत्यक्ष के लिए अनिवार्य है। वैशेषिक दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि कारण द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान गुण कार्यद्रव्य में समानजातीय अन्य गुणों को उत्पन्न करते हैं।[16] शुक्ल तन्तुओं से शुक्ल पट की उत्पत्ति देखने को मिलती है। इन्हीं सब नियमों के आधार पर कार्यजगत् की उत्पत्ति होती है।

उत्तर पक्ष—अब बादरायण और शंकराचार्य वैशेषिक परमाणुवाद का खण्डन करने के लिए तत्पर होते हैं। उनका खण्डन निम्न है—

1. **महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्** 2, 2, 11—वेदान्ती कहते हैं कि वैशेषिक दर्शन का यह कहना है कि कारणद्रव्य के गुण कार्यद्रव्य में संचरित हो जाते हैं, स्वयं उन्हीं के अनुसार व्यवहार में चरितार्थ नहीं होता। परमाणु सूक्ष्म और परिमण्डल हैं, पर द्वयणुक आणविक एवं ह्रस्व हैं तथा त्रयणुक महत् और दीर्घ हैं। अतः किस प्रकार कहा जा सकता है कि कारण के गुण कार्य में संचरित हो जाते हैं? जिस प्रकार परिमण्डल परमाणु से अणु और ह्रस्व द्वंयणुक उत्पन्न होता है तथा उनसे महत् और दीर्घ त्रयणुक उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार यदि चेतन द्रव्य से अचेतन जगत् की उत्पत्ति होती है तो इसमें क्या हानि है? यदि वैशेषिक लोग यह कहें कि द्वयणुक आदि कार्यद्रव्य विरोधी परिमाणो (अणुत्व व ह्रस्वत्व) से आक्रान्त हैं, इस कारण परिमण्डल परमाणुओं को इनका आरम्भक नहीं माना जा सकता। पर जगत् चेतनाविरोधी गुणों से आक्रान्त नहीं है, क्योंकि अचैतन्य चैतन्य का विरोधी गुण न होकर चैतन्य अभाव ही है। अतः, ऐसी स्थिति में चेतन ब्रह्म चेतन जगत्

16. कारणद्रव्यसमवायिनो गुणाः कार्यद्रव्ये समानजातीयं गुणान्तरमारभन्ते।

को उत्पन्न क्यों नहीं करता ? उसे चेतन जगत् को उत्पन्न करने में कौन रोकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्ती कहते हैं कि "जिस प्रकार कारण में विद्यमान पारिमण्डल्य अणु एवं ह्रस्व परिमाण का कारण नहीं है, उसी प्रकार चैतन्य भी कारण में विद्यमान होते हुए भी जगत् का कारण नहीं है।" इस बात में दोनों में समानता है। पारिमाण्डल्यादि के अनारम्भकत्व में अन्य परिमाण से आक्रान्त होना कारण नहीं है, क्योंकि अन्य परिमाण (अणुत्व और ह्रस्व) के आरम्भ के पूर्व पारिमाण्डल्यादि आरम्भक हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि वैशेषिक दर्शन के अनुसार आरब्ध भी कार्यद्रव्य गुणों के आरम्भ के पूर्व क्षणमात्र गुणरहित रहता है।[17] पारिमाण्डल्यादि अन्य परिमाण के आरम्भ में व्यग्र हैं, इस कारण अन्य समानजातीय परिमाण का आरम्भ नहीं करते, यह कथन ठीक नहीं है। यहाँ परिमाणान्तर का अन्य हेतु कारणगत् संख्या स्वीकार की गई है। कारण के बहुत होने से कारण के महत्त्व से तथा अवयवों के संयोग विशेष से महत् परिमाण उत्पन्न होता है।[18] किसी संनिधान विशेष से कारण बहुत्व आदि आरम्भक होते हैं, पारिमाण्डल्यादि आरम्भक नहीं होते, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि "अन्य द्रव्य या अन्य गुणों के आरम्भ करने में सब कारण गुणों का स्वाश्रय समवाय समान है।" इसलिए स्वभाव से पारिमाण्डल्यादि अनारम्भक हैं, वैसे चेतना भी अनारम्भक है, ऐसा समझना चाहिए।

2. **उभयथापि न कर्मातस्तद्भावः** 2, 2, 12—दोनों प्रकार से भी परमाणु में उत्पत्ति-विषयक क्रिया नहीं हो सकती, अतः परमाणु से द्वयणुक आदि क्रम से सृष्टि नहीं हो सकती। वैशेषिक मत के अनुसार किसी भावकार्य के समवायी, असमवायी और निमित्त तीन कारण होते हैं। उदाहरण के लिए पट की उत्पत्ति में तन्तु समवायी कारण हैं, तन्तु-संयोग असमवायी कारण हैं तथा जुलाहा व वेम निमित्त कारण हैं। इसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति में परमाणु समवायी कारण हैं, परमाणुओं का संयोग असमवायी कारण तथा ईश्वर और अदृष्ट निमित्त कारण हैं। अब परमाणुओं के बीच संयोग दो प्रकार से उत्पन्न हो सकता है—प्रथम प्रयत्न द्वारा और द्वितीय **अभिघात** द्वारा। सृष्टि के पूर्व आत्मा में **प्रयत्न** असम्भव है, क्योंकि प्रयत्न के लिए आत्मा में ज्ञान का होना अनिवार्य है। ज्ञान तभी सम्भव है जब बाह्य वस्तुओं का शरीर, मन और आत्मा से सम्बन्ध हो जो सृष्टि के पूर्व असम्भव है। अभिघात भी असम्भव है, क्योंकि सृष्टि के पूर्व न तो वस्तुएँ हैं और न वायु ही, जिससे कि वस्तुओं के बीच अभिघात हो सके। प्रलय की अवस्था में परमाणु भी निष्क्रिय होते हैं। अब, यदि यह कहा जाय कि गति अदृष्ट से आती है, तो प्रश्न उत्पन्न

17. तर्कभाषा, उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियं च तिष्ठति।
18. वैशेषिक सूत्र, 7,1,9 कारणबहुत्वात्कारणमहत्त्वात्प्रचयविशेषाच्च महत्।

होगा कि अदृष्ट का अधिष्ठान क्या है ? अचेतन होने के कारण अदृष्ट स्वयं गति का कारण नहीं बन सकता। सृष्टि के पूर्व आतमा भी अचेतन है, अतः अदृष्ट आत्मा के द्वारा भी संचालित नहीं हो सकता। यदि अदृष्ट वाले आत्मा का परमाणु के साथ सम्बन्ध मानें तो आत्मा के व्यापक होने से इसके साथ निरन्तर सम्बन्ध होने के कारण परमाणुओं में निरन्तर प्रक्रिया होगी तथा प्रलय असम्भव हो जायगा।

3. **समवायाभ्युगमाच्च साम्यादनवस्थिते** 2, 2, 13—समवाय सम्बन्ध भी सृष्टि की उत्पत्ति या प्रलय की समुचित व्याख्या नहीं कर सकता। वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणुओं से अत्यन्त भिन्न द्वयणुक समवाय सम्बन्ध से उनके साथ सम्बद्ध है। समवाय जो स्वयं एक पदार्थ है, समवायियों से अत्यन्त भिन्न होता है और वह अन्य समवाय सम्बन्ध से अपने समवायियों के साथ सम्बद्ध होगा, क्योंकि अत्यन्त भेद दोनों में समान है। ऐसी स्थिति में तत्-तत् समवाय के लिए अन्य-अन्य समवाय की कल्पना करनी होगी। इस अनवस्था दोष के कारण द्वयणुक आदि क्रम से सृष्टि उत्पन्न ही न होगी।

4. **नित्यमेव च भावात** 2, 2, 14—परमाणुओं में प्रवृत्तिस्वभाव माना जाय, या निवृत्तिस्वभाव माना जाय अथवा उभयस्वभाव या अनुभयस्वभाव माना जाय? यदि उनका प्रवृत्तिस्वभाव माना जाय तो सृष्टि नित्य हो जायगी और प्रलय असम्भव हो जायगा। यदि परमाणुओं का निवृत्तिस्वभाव माना जाय तो सृष्टि असम्भव हो जायगी। यदि उभयस्वभाव माना जाय तो इससे असामंजस्य की उत्पत्ति होगी तथा यदि अनुभयस्वभाव माना जाय, तो परमाणुओं की गति किसी अन्य सत्ता पर आश्रित होगी। वह सत्ता अदृष्ट है। अदृष्ट निमित्त के नित्य संनिधान से नित्य प्रवृत्ति का प्रसंग होगा तथा अदृष्ट के अनियामक होने पर नित्य अप्रवृत्ति का प्रसंग होगा। अतः सभी अवस्थाओं में परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है।

5. **रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्** 2, 2, 15,—वैशेषिक दर्शन के अनुसार जब वस्तुओं का विभाजन किया जाता है तो एक ऐसी अवस्था आती है जब उनका आगे विभाजन नहीं किया जा सकता। परमाणु किसी द्रव्य का वह निम्नतम अंश है जिसका आगे विभाजन नहीं किया जा सकता। परमाणु चार प्रकार के हैं, पृथ्वी-परमाणु, जल-परमाणु, अग्नि-परमाणु, एवं वायु-परमाणु। परमाणु नित्य हैं। इनमें मूल गुण तो पाये ही जाते हैं, साथ-साथ गन्ध, रस, रूप एवं स्पर्श गुण (उप) भी पाए जाते हैं। इन्हीं चार प्रकार के परमाणुओं से सम्पूर्ण जगत् का निर्माण हुआ है।

वेदान्ती कहते हैं कि यदि परमाणुओं में गन्ध, रस, रूप व स्पर्श के उपगुण पाए जाते हैं तो वे संसार की अन्य वस्तुओं के समान स्थूल, सावयव व अनित्य ही होंगे।[19] जिस प्रकार पट तन्तुओं की अपेक्षा स्थूल और अनित्य होता है, तन्तु अपने अवयवों की अपेक्षा स्थूल और अनित्य होते हैं, उसी प्रकार परमाणु भी रूपादियुक्त होने से अपने अवयवों की अपेक्षा स्थूल और अनित्य होंगे। इस पर वैशेपिकों का यह सूत्र कि 'वह सत् जिसका कोई कारण नहीं है, वह नित्य है'[20] परमाणुओं पर लागू नहीं होता। इसके अतिरिक्त परमाणुओं की नित्यता के विषय में वे एक दूसरा कारण भी देते हैं, 'यदि कारण को नित्य न माना जाय तो कार्य की अनित्यता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता'।[21] यह सूत्र भी यहाँ परमाणुओं पर लागू नहीं होगा। अतः इस नियम के अनुसार परमाणु नहीं, वरन् ब्रह्म ही एक मात्र सत् हो सकता है।

6. **उभयथा च दोषात्** 2, 2,16—गन्ध, रस, रूप और स्पर्श गुण वाली पृथ्वी स्थूल है। रूप, रस और स्पर्श गुणविशिष्ट जल सूक्ष्म है। रूप और स्पर्श गुण युक्त तेज सूक्ष्मतर है तथा स्पर्श गुण वाला वायु सूक्ष्मतम है। ये चारभूत अधिक और न्यून गुण वाले स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम तारतम्य से युक्त लोक में देखे जाते हैं। अक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि स्थूल-सूक्ष्म पृथ्वीजलादि के समान उनके परमाणु भी अधिक और न्यून गुण वाले कल्पना किए जाते हैं कि नहीं? दोनों प्रकार से ही दोष की प्रसक्ति अनिवार्य होगी। यदि यह कहा जाय कि कुछ परमाणुओं में अन्य परमाणुओं की अपेक्षा अधिक गुण पाए जाते हैं, तो उनकी मूर्ति (आकार) में वृद्धि हो जायगी और वे परमाणु नहीं रह जायेंगे। इसके विपरीत, यदि कहा जाय कि परमाणुओं में गुणों की संख्या समान पाई जाती है, तो दो विकल्प उत्पन्न होंगे—प्रथम विकल्प के अनुसार सभी प्रकार के परमाणुओं में केवल एक गुण पाए जायँगे। ऐसी स्थिति में हम तेज स्पर्श गुण नहीं देखेंगे; रूप और स्पर्श जल में और स्वाद, रूप व स्पर्श पृथ्वी में नहीं दिखाई देंगे। पर ऐसा व्यवहार में कहीं दिखाई नहीं देता। द्वितीय विकल्प के अनुसार, यदि सभी प्रकार के परमाणुओं में उपर्युक्त चारों गुण पाए जाते हैं, तो भी ऐसा संसार में कहीं भी नहीं दिखाई देता। इन सभी कारणों से परमाणुकारणवाद का सिद्धान्त स्वीकार्य नहीं हो सकता।

7. **अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा,** 2, 2, 17—परमाणुकारणवाद को किसी भी अंश में

---

19. परमाणवः समवायिकारणवन्तः स्वकारणापेक्षया स्थूला अनित्याश्च रूपवत्वात्, रसवत्वात्, स्पर्शवत्वात्, गन्धवत्वात् पटवत्।
20. वैशेषिक सूत्र, 4, 1, 1 सदकारणवन्नित्यम्।
21. वही, 4, 1, 4, अनित्यमिति च विशेषतः प्रतिषेधाभावः।

मनु आदि शिष्टों ने ग्रहण नहीं किया है। अत: कल्याणार्थी पुरुषों को उसमें अत्यन्त अनपेक्षा करनी चाहिए। वैशेषिक छह भाव पदार्थों में विश्वास करता है तथा इनमें द्रव्य को स्वतन्त्र पदार्थ घोषित कर शेष को द्रव्य के आश्रित घोषित करता है। यदि अन्य पाँच पदार्थ द्रव्य पर आश्रित हैं तो ये पाँच पदार्थ द्रव्य के ही विशेष रूप कहे जा सकते हैं। पर ऐसा मानना वैशेषिक मत के विपरीत होगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि द्रव्य और गुण एक-दूसरे से पृथक् हैं, क्योंकि द्रव्य के बिना गुणों का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि द्रव्य और गुणों के बीच अयुतसिद्ध-सम्बन्ध है तो यह अयुतसिद्धत्व या तो अपृथक्देशत्व होगा, अपृथक्कालत्व होगा अथवा अपृथक्स्वभावत्व होगा। पर इनमें से किसी भी विकल्प का वैशेषिक मत से मेल नहीं खाता। संयोग और समवाय का भेद भी ठीक नहीं है। संयोग ऐसी वस्तुओं के बीच माना जाता है जिनका पृथक् अस्तित्व सम्भव है। समवाय ऐसी वस्तुओं के बीच सम्बन्ध है जिनका पृथक् अस्तित्व असम्भव है। कारण-कार्य के बीच समवाय सम्बन्ध माना जाता है। कारण कार्य के पहले अस्तित्व में आता है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि कारण-कार्य के बीच अयुतसिद्ध सम्बन्ध है? जिस कार्य की अभी उत्पत्ति ही नहीं हुई है, उसका कारण के साथ सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है? वस्तुओं से पृथक् संयोग या समवाय का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अत: प्रत्येक दृष्टि से वैशेषिक परमाणुकारणवाद का सिद्धान्त गलत है।

3. वैशेषिक दर्शन के पदार्थों का खण्डन

वैशेषिक दर्शन छह पदार्थों (Categories) में विश्वास करता है। एरिस्टॉटल के विधेयों के समान ये केवल तार्किक विधेय नहीं हैं, वरन् तात्त्विक पदार्थ हैं। ये सभी पदार्थ कहने के लिए तो एक-दूसरे से पृथक् एवं स्वतन्त्र घोषित किए गए हैं, पर व्यवहार में कर्म, गुण इत्यादि पदार्थ द्रव्य पर आश्रित हैं। यदि ऐसी बात है तो द्रव्य ही एक मात्र पदार्थ होगा। यदि इससे बचने के लिए वैशेषिक वाले कहें कि द्रव्य और गुणों के बीच अयुतसिद्ध सम्बन्ध पाया जाता है तो यह अयुतसिद्ध सम्बन्ध या तो अपृथक्देशत्व रूप होगा या अपृथक्कालत्व या अपृथक्स्वभावत्व रूप होगा। किन्तु इनमें से कोई भी विकल्प वैशेषिक दर्शन की पुष्टि नहीं करेगा। यदि अपृथक्देशत्व स्वीकार किया जाय तो वैशेषिकों का यह मत बाधित हो जायगा कि सफेदी और कपड़े में एकदेशत्व पाया जाता है तथा सूत और कपड़े में एकदेशत्व पाया जाता है। यदि द्रव्य और गुण में अपृथक्कालत्व स्वीकार किया जाय तो दो सींगों के बीच भी अयुतसिद्ध सम्बन्ध मानना होगा। इसके अतिरिक्त, यदि अपृथक्स्वभावत्व को स्वीकार किया जाय तो यह एक प्रकार का तादात्म्य ही होगा। शंकराचार्य समवाय को एक स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार नहीं करते।

समवाय सम्बन्ध को वे तादात्म्य के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

द्रव्य और गुण के बीच समवाय सम्बन्ध है। वैशेषिकों के अनुसार समवाय एक पृथक् पदार्थ है। ऐसी स्थिति में द्रव्य और समवाय के बीच एक दूसरे समवाय तथा समवाय और गुण के बीच एक तीसरे समवाय की कल्पना करनी होगी। इससे अनवस्थादोष की उत्पत्ति होगी। अत: समवाय को तादात्म्य मानना होगा।

शंकराचार्य पूर्ण एवं अंश के भेद को भी अस्वीकार करते हैं। पूर्ण को न तो अंशों का संघात ही माना जा सकता है और न तो अंशों से पृथक् ही माना जा सकता है। पूर्ण सभी अंशों में एकसाथ निवास नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में पूर्ण का प्रत्यक्ष असम्भव हो जायगा। सभी अंशों का एक साथ प्रत्यक्ष करना असम्भव है। यदि यह कहा जाय कि पूर्ण एकसाथ सभी अंशों में अन्य अंशों की सहायता से निवास करता है तो यह असम्भव है, क्योंकि इससे अनवस्था-दोष की उत्पत्ति होगी। पुन: पूर्ण सभी अंशों में पृथक्-पृथक् रूप में निवास नहीं कर सकता क्योंकि यदि वह एक अंश में पूर्णरूप में निवास करता है तो दूसरे अंशों में कभी भी निवास नहीं कर सकता। यदि यह मान भी लिया जाय कि पूर्ण पृथक्-पृथक् रूप में सभी अंशों में निवास करता है, तो ऐसी स्थिति में हमें एक के स्थान पर अनेक पूर्णों का प्रत्यक्ष होने लगेगा, जैसा कि व्यवहार में कभी नहीं होता। इन सभी कारणों से शंकराचार्य के अनुसार पूर्ण एवं अंश की कल्पना तात्त्विक न होकर मिथ्या ही है।[22]

वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार आत्मा एक द्रव्य है जिसका चैतन्य एक आगन्तुक गुण है। आत्मा प्रारम्भ में अचेतन ही रहता है, पर जब आत्मा का बाह्य वस्तुओं के साथ सम्पर्क होता है तो उसके भीतर चैतन्य-नाम का गुण उत्पन्न हो जाता है। यहाँ चैतन्य आत्मा का स्वभाव न होकर उसका आगन्तुक गुण ही है। शंकराचार्य के अनुसार, आत्मा की यह बिलकुल निरर्थक कल्पना है। चैतन्य आत्मा का स्वभाव है। चैतन्य के बिना आत्मा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यदि चैतन्य को आत्मा का गुण मान लिया जाय तो दु:ख और सुख के गुण आत्मा की तरह नित्य मान लिए जायँगे अथवा दु:ख और सुख के समान आत्मा को भी अनित्य मान लिया जायगा जो असम्भव है। किसी भी तर्क के अनुसार यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि आत्मा अनित्य या परिवर्तनशील है।[23]

वैशेषिक दर्शन का कर्म भी असम्भव है। इसके अनुसार ईश्वर अदृष्ट की सहायता से परमाणुओं में गति या क्रिया को उत्पन्न करता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि

22. शांकर भाष्य, 2, 1, 18।
23. बृह० भाष्य, 1, 4, 7।

अदृष्ट कहाँ निवास करता है ? यदि आत्मा में निवास करता है तो यह गति का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि सृष्टि के पूर्व आत्मा और अदृष्ट दोनों अचेतन हैं। पुनः आत्मा का परमाणुओं के साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं है जिससे कि वह उनमें गति प्रदान कर सके। यदि आत्मा का परमाणुओं से साक्षात् सम्बन्ध मान लिया जाय तो सृष्टि नित्य हो जायगी। अतः कर्म असम्भव है।[24]

इसी प्रकार सामान्य का अस्तित्व भी असम्भव है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार विशेषों के अस्तित्व के साथ सामान्य का भी एक स्वतन्त्र अस्तित्व होता है जो नित्य, एक और अनेकानुगत है।[25] इस सामान्य का खण्डन करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि हमें विशेष गायों के भीतर किसी 'सामान्य गाय' का कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। विशिष्ट गायों के भीतर 'सामान्य गाय' विद्यमान न होकर 'सामान्य गोत्व' ही विद्यमान होता है जो 'सामान्य' नामक पदार्थ न होकर केवल सामान्य विशेषताएँ ही होती हैं। यदि किसी 'सामान्य गाय' को प्रत्येक विशिष्ट गाय में पूर्णरूप से विद्यमान मान लिया जाय तो किसी विशिष्ट गाय की सींग या पूँछ से भी दूध की प्राप्ति की जा सकती है जो व्यवहार में नहीं पाया जाता। अतः सामान्य की कल्पना मिथ्या है।

4. बौद्ध मत का खण्डन

शंकराचार्य वैशेषिक मत को अद्र्धवैनाशिक मत कहते हैं। वे परमाणु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा, मन, सामान्य, विशेष, समवाय इत्यादि पदार्थ, शब्द, स्पर्श, रूप आदि गुण तथा कर्म में विश्वास करते हैं। इनमें कुछ को नित्य और कुछ को अनित्य मानते हैं। इसके विपरीत बौद्ध मत को वे सर्ववैनाशिक मानते हैं, क्योंकि बौद्ध संसार की सभी वस्तुओं को अनित्य व क्षणिक मानते हैं।

बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। इनमें वैभाषिक और सौत्रान्तिक सर्वास्तिवादी कहे जाते हैं, क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु के स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास करते हैं। इन दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि वैभाषिक बाह्यप्रत्यक्षवाद में विश्वास करते हैं तो सौत्रान्तिक बाह्यानुमेयवाद में। पर वे दोनों वस्तुवादी सिद्धान्त है। इनके अतिरिक्त योग द्वारा आलय विज्ञान का साक्षात्कार करने वाला योगाचार है। यह विज्ञानवादी है, क्योंकि यह चैतन्य या विज्ञान के ही एक मात्र अस्तित्व में विश्वास करता है।[26] अन्त में माध्यमिक शून्यवादी है जो 'सर्वं शून्यम्' में

24. शांकर भाष्य, 2, 2, 12।
25. नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्-तर्कसंग्रह।
26. विज्ञानमेवैकं सत्।

विश्वास करता है। शंकराचार्य ने बौद्ध दर्शन के इन सभी सम्प्रदायों का एक-एक करके खण्डन किया है। इन सभी सम्प्रदायों में कुछ समानताएँ भी पाई जाती हैं। सभी प्रतीत्यसमुत्पादवाद, क्षणभंगवाद, सन्तानवाद व संघातवाद में विश्वास करते हैं। सर्वप्रथम सर्वास्तिवाद का खण्डन किया जायगा।

5. सर्वास्तिवाद का खण्डन

1. **समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः,** 2, 2, 28—बौद्ध सर्वास्तिवादियों के अनुसार बाह्य भौतिक जगत् पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के परमाणुओं के संघात से निर्मित है तथा आध्यात्मिक जगत् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार व विज्ञान इन पाँच स्कन्धों से निर्मित है। सूत्र का अर्थ यह है कि परमाणुहेतुंक बाह्य समुदाय तथा स्कन्धहेतुक आध्यात्मिक समुदाय में भी समुदाय की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अचेतन परमाणु और स्कन्धों का अपने आप समुदाय असम्भव है। इन समुदायों के अतिरिक्त किसी कूटस्थ आत्मा में वे विश्वास ही नहीं करते जिससे कि इन समुदायों की प्राप्ति हो सके। परमाणु और स्कन्ध दोनों अचेतन हैं। अतः उनके द्वारा समुदायों का निर्माण होना असम्भव है। यदि यह कहा जाय कि परमाणु और स्कन्ध स्वयं अपने स्वभाव के कारण सक्रिय होते हैं, तो इनके सक्रिय होने के कारण समुदायों की प्राप्ति नित्य हो जायगी और निर्वाण असम्भव हो जायगा। मन भी इन समुदायों का कारण नहीं है, क्योंकि देहाकार संघात होने पर मन का विज्ञान उत्पन्न होता है तथा मन का विज्ञान होने पर समुदायों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष की उत्पत्ति होगी। परमाणुओं और स्कन्धों के अतिरिक्त न तो कोई नित्य आत्मा है और न कोई नित्य ईश्वर ही है जो समुदायों की उत्पत्ति कर सके।

2. **इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्र निमित्तत्वात्,** 2, 2, 19—यदि यह कहा जाय कि भोक्ता (आत्मा) अथवा प्रशासिता (ईश्वर) नामक संघातकर्त्ता भले ही न हो, पर फिर भी अविद्या, संस्कार के बीच परस्पर कारणता होने के कारण लोक यात्रा हो सकती है। अविद्या आदि समुदाय के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव कार्य-कारण रूप से घटीयंत्र के समान सर्वदा आवर्त्तमान होने से संघात उत्पन्न होता है। इस पर वेदान्ती कहते हैं कि अविद्या, संस्कार आदि परस्पर कारण होने पर भी पूर्व-पूर्व उत्तरोत्तर की केवल उत्पत्ति का निमित्त होता है, संघात का निमित्त नहीं होता। अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम-रूप की श्रेणी स्वयं संघात पर आश्रित होती है, अतः यह संघात का कारण नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि, द्वादश-निदान में उत्पत्ति और संघात एकसाथ होता है तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि उत्तरोत्तर संघात पूर्व-पूर्व संघात के समान होंगे अथवा असमान। यदि वे समान हैं तो इसका अर्थ है कि उनमें कोई परिवर्तन नहीं है और यदि असमान हैं तो इसका अर्थ यह है कि पाप और पुण्य का विचार किए बिना ही उनमें परिवर्तन हो जाता है।

3. **उत्तरोत्पादेच पूर्वनिरोधात्** 2, 2, 20—बौद्ध लोग दो प्रकार की कार्योत्पत्ति मानते हैं—एक हेतु के अधीन और दूसरी समुदाय के अधीन। इन दोनों में, 'अविद्या से संस्कार की उत्पत्ति और संस्कार से विज्ञान की उत्पत्ति',[27] यह प्रथम प्रकार की कार्योत्पत्ति है। 'पृथ्वी आदि समुदाय से शरीर आदि उत्पन्न होता है', यह द्वितीय प्रकार की कार्योत्पत्ति है। इस द्वितीय प्रकार की कार्योत्पत्ति को संघातकर्ता के अभाव से अस्वीकार कर दिया गया। इस सूत्र के द्वारा प्रथम प्रकार की कार्योत्पत्ति को भी अस्वीकार किया जा रहा है।

इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि दो क्षणिक वस्तुओं के बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। बौद्ध मत गें प्रत्येक कार्य प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण में स्वयं नष्ट होता हुआ अपने समान दूसरे कार्य को उत्पन्न कर नष्ट हो जाता है। अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि द्वितीय कार्य-क्षण की उत्पत्ति के पहले ही प्रथम कारण-क्षण नष्ट हो जाता है तो वह द्वितीय कार्य-क्षण को किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है ? यदि उत्पत्ति को ही व्यापार मान लिया जाय तो भी कार्य-कारण भाव नहीं हो सकता, क्योंकि हेतु के स्वरूप के साथ सम्बद्ध हुए बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

4. **असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा,** 2, 2, 21—सूत्रार्थ यह है कि यदि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति मानी जाय तो प्रतिज्ञा का बाध होगा। यदि कार्य-पर्यन्त कारण की स्थिति मानी जाय तो कारण-कार्य युगपद हो जायँगे और क्षणिकत्व प्रतिज्ञा की हानि होगी। बौद्ध मत में बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। किसी कार्य की उत्पत्ति में विषय, करण, सहकारी और संस्कार ये चार प्रकार के हेतु स्वीकार किये गए हैं। ये बौद्ध ग्रन्थों में क्रमशः आलम्बन प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, सहकारि प्रत्यय तथा समनन्तर प्रत्यय कहे जाते हैं। अतः कार्य निर्हेतुक नहीं हो सकता। इसी प्रकार कारण-कार्य में यौगपद्य भी नहीं हो सकता क्योंकि इससे क्षणिकत्व का विरोध होगा। अतः क्षणों से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

5. **प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्,** 2, 2, 22—सन्तान और सन्तानियों में बुद्धिपूर्वक नाश और अबुद्धिपूर्वक नाश सम्भव नहीं है, क्योंकि सन्तान और सन्तानियों का विच्छेद नहीं होता। बौद्ध लोग कल्पना करते हैं कि जो प्रमेय मात्र हैं तथा तीन (त्रायद) से भिन्न हैं, वे उत्पाद्य और क्षणिक हैं।[28] उन तीनों को भी प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध तथा आकाश कहते हैं। ये तीन भी अवस्तु, अभाव मात्र तुच्छ हैं। भावों का बुद्धिपूर्वक विनाश प्रतिसंख्यानिरोध, उसके विपरीत अप्रतिसंख्यानिरोध तथा

27. भूतिर्येषा क्रिया सैव कारकं सैवोच्यते।
28. बुद्धि बोध्यं त्रयादन्यत्संस्कृतं क्षणिकं चैति।

आवरण का अभाव मात्र आकाश है । यह प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध सन्तान-गोचर होगा या भाव-गोचर । सन्तान-गोचर तो हो नहीं सकता, क्योंकि सर्वसन्तानों में सन्तानियों के विच्छेदरहित कार्य-कारण भाव होने से सन्तान का विच्छेद सम्भव नहीं है । इसी प्रकार वे भाव-गोचर भी नहीं हो सकते, क्योंकि भावों का निश्चय विनाश नहीं हो सकता । इसका कारण यह है कि सब अवस्थाओं में भी प्रत्यभिज्ञान के बल से अन्वयी का विच्छेद देखने को नहीं मिलता । इस प्रकार वैनाशिक कल्पित निरोध-द्वय की उपपत्ति नहीं है ।

6. **उभयथा च दोषात्**, 2, 2, 23—अविद्या का सम्यग्ज्ञान से नाश होता है अथवा अपने आप । दोनों प्रकार से दोष होने के कारण सौगत मत असंगत है । यम, नियम, श्रवण, मनन आदि सम्यग्ज्ञान की सामग्री है । यदि सामग्रीसहित सम्यग्ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति मानी जाय तो बौद्ध मत का बिना कारण के नाश का सिद्धान्त बाधित हो जायगा । इसके विपरीत यदि यह कहा जाय कि अविद्या का स्वतः ही विनाश हो जाता है तो मार्गोपदेश व्यर्थ हो जायगा । इस प्रकार दोनों पक्षों के दूषित होने से बौद्ध दर्शन अयुक्त है ।

7. **आकाशे चाविशेषात्**, 2, 2, 24—जिस प्रकार पिछले सूत्र में प्रतिसंख्यानिरोध एवं अप्रतिसंख्यानिरोध के तुच्छत्व का निराकरण किया गया, उसी प्रकार इस सूत्र के द्वारा आकाश के तुच्छत्व का निराकरण किया जा रहा है । आकाश अवस्तु नहीं है । श्रुति कहती है, 'आत्मन आकाशः संभूतः' अर्थात् 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ ।'[29] अनुमान से भी इसकी सिद्धि होती है । जिस प्रकार गन्ध गुण से पृथ्वी का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार शब्द गुण से आकाश का अनुमान किया जाता है । बौद्धों के अनुसार आकाश वायु का आश्रय है । अतः इसे वस्तुरूप होना चाहिए । पुनः हम यह नहीं कह सकते कि प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध के समान आकाश अवस्तु है और साथ-साथ नित्य भी है । जो अवस्तु रूप है, वह न तो नित्य हो सकती है और न अनित्य ही ।

8. **अनुस्मृतेश्च**, 2, 2, 25—उपलब्धि के अनन्तर उत्पन्न हुआ स्मरण ही अनुस्मृति है । इससे प्रतीत होता है कि अनुभवकर्त्ता आत्मा क्षणिक नहीं है । यदि क्षणभंगवाद को सार्वभौम सत्य मान लिया जाय तो अनुभावक आत्मा भी क्षणिक हो जायगा । ऐसी स्थिति में स्मृति असम्भव हो जायगी । स्मृति के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञान प्राप्त करने वाली आत्मा और स्मरण करने वाली आत्मा समान हो । संवेदन, प्रत्यभिज्ञा, प्रत्यक्ष व स्मरण के क्षण एक ही आत्मा से सम्बन्धित होने चाहिए, तभी स्मृति की सम्भावना हो सकती है । यह तभी सम्भव है जब आत्मा क्षणिक न होकर नित्य और शाश्वत हो । यदि कोई कहे कि

29. तैत्ति० उप० 2/1 ।

वास्तव में नित्य आत्मा नाम की कोई वस्तु संसार में विद्यमान नहीं है, केवल दो या अधिक स्वसंवेदनाओं के सादृश्य 'तेनेदं सदृशं' के आधार पर ही हम एक 'नित्य' आत्मा की कल्पना कर लेते हैं। इसके उत्तर में वेदान्ती कहता है कि इस समानता (Similarity) की प्रत्यभिज्ञा तभी हो सकती है जबकि 'तेनेदं सदृशं' में प्रतियोगी, अनुयोगी तथा सादृश्य का ग्रहीता नित्य आत्मा हो। अत: क्षणभंगवाद कभी भी युक्त सिद्धान्त नहीं हो सकता।

9. **नासतोऽदृष्टत्वात्**, 2, 2, 26—अभाव से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि असत् नरशृंग आदि से कार्योत्पत्ति नहीं देखी जाती। क्षणभंगवादियों के अनुसार प्रथम क्षण के नष्ट हो जाने पर ही द्वितीय क्षण की उत्पत्ति होती है।[30] इसका अर्थ यह है कि अभाव से ही कार्यक्षण की उत्पत्ति होती है। यदि अभाव से ही कार्य की उत्पत्ति मान ली जाय तो किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए विशिष्ट कारणों की क्या आवश्यकता होगी? अभाव तो सर्वत्र समान ही होता है। यदि यह कहा जाय कि विभिन्न प्रकार के अभाव होते हैं और उनके भीतर विशिष्ट गुण पाए जाते हैं तो ऐसी स्थिति में वे अभाव न होकर भाव पदार्थ हो जायँगे। अभाव के भीतर कार्य करने की क्षमता कभी भी नहीं हो सकती।

10. **उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः** 2, 2, 27—यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति स्वीकार करें तो ऐसा मानने पर चेष्टारहित उदासीन पुरुषों को भी अभिमत सिद्धि हो जायगी, क्योंकि अभाव सर्वत्र सुलभ है। खेत में प्रयत्न न करने वाले किसान को भी अभिमत सिद्धि हो जायगी। मृत्तिका की संस्कारक्रिया में प्रयत्न न करने वाले कुलाल से वर्तन उत्पन्न हो जायँगे। इसी प्रकार स्वर्ग और मोक्ष के लिए भी कोई किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करेगा। पर इसे कभी भी युक्त नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त कारणों से सर्वास्तिवाद त्रुटिपूर्ण है।

6. योगाचार विज्ञानवाद का खण्डन

बौद्ध सम्प्रदायों में वैभाषिक और सौत्रान्तिक वस्तुवादी (Realist) हैं जिनके अनुसार आत्मा से स्वतन्त्र बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व होता है। इनके विपरीत योगाचार विज्ञानवाद के अनुसार क्षणिक विज्ञानों से भिन्न कोई बाह्य पदार्थ नहीं है। घट, पट इत्यादि विज्ञान के आकार विशेष हैं और वे आन्तरिक हैं, बाहर वे भ्रमवश ही प्रतीत होते हैं। विज्ञानवादी वस्तुवाद का निम्न प्रकार से खण्डन करते हैं—

(1) आत्मा से स्वतन्त्र बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता क्योंकि वे या तो परमाणु-रूप होंगी या परमाणुओं के समुच्चय-रूप। परमाणु अतीन्द्रिय हैं, अत: उनके

---

30. [illegible] प्रादुर्भावात्।

संघात भी अगोचर होंगे।

(2) घट, पट, दीवाल, स्तम्भ इत्यादि के ज्ञान का भेद बाह्य वस्तुओं के भेद के कारण नहीं हैं, उनका-भेद मानसिक संस्कारों के कारण है। 'जागृत विज्ञान बाह्य अर्थ के आलम्बन से नहीं उत्पन्न होता, क्योंकि यह विज्ञान है, जैसे स्वप्नादि विज्ञान।'[31] अत: बाह्य वस्तुओं का आत्मा से स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है।

(3) ज्ञान से भिन्न ज्ञेय वस्तु के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती।[32] सहोपलम्भ नियम से भी नील और उसके ज्ञान का अभेद है। भेद भ्रांति के कारण ही देखा जाता है।[33] अत: बाह्य वस्तुओं का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अब शंकराचार्य विज्ञानवाद के खण्डन के लिए उद्यत होते हैं।

1. **नाभाव उपलब्धे:** 2, 2, 28—विज्ञान से अतिरिक्त पदार्थों का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि विज्ञान से अतिरिक्त पदार्थों की उपलब्धि होती है। हमारा प्रत्येक प्रत्यक्ष बाह्य वस्तुओं की ओर संकेत करता है। विज्ञानवादी इस बात को स्वयं स्वीकार करते हैं, जब वे कहते हैं, 'ज्ञान के आंतरिक विषय ही बाह्य वस्तुओं की तरह प्रतीयमान होते हैं।'[34] यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व न होता तो यह भी नहीं कहा जा सकता था कि आन्तरिक विज्ञान ही बाह्य वस्तुओं की तरह दिखाई पड़ते हैं। कोई भी समझदार व्यक्ति यह कहता हुआ नहीं पाया जा सकता कि विष्णुमित्र बन्ध्यापुत्र के समान दिखाई पड़ रहा है।[35] इसी सन्दर्भ में शंकराचार्य ने धर्मकीर्ति से एक उद्धरण प्रस्तुत किया है जिसका मन्तव्य यह है कि अद्वैत चैतन्य ही, भ्रांतिवश ज्ञाता-ज्ञेय के द्वैतरूप में दिखाई पड़ता है।[36] इसका खण्डन करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि विज्ञानवादियों को नहीं कहना चाहिए कि आन्तरिक विज्ञान ही बाह्य वस्तुओं की तरह दिखाई पड़ते हैं, बल्कि यह कहना चाहिए कि आन्तरिक विज्ञान ही बाह्य वस्तु के रूप में दिखाई पड़ते हैं।[37] शंकर के अनुसार विज्ञान और वस्तुओं में तादात्म्य सम्बन्ध न होकर कार्य-कारण सम्बन्ध पाया जाता है। बिना बाह्य

---

31. जागृद्विज्ञान न ब्राह्यालम्बनं विंज्ञानत्वात् स्वप्नादि विज्ञानवत्।
32. ज्ञेयं ज्ञानातिरेकेणासत् तदतिरेकेणाऽसम्भवात् नरशृंगत्।
33. सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्वियो:। भेदश्च भ्रांतिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये।
34. दिङ्नाग, आलम्वन परीक्षा, यदन्तेंयरूपं तद् बहिर्वदवभासते।
35. शांकर भाष्य, 2, 2, 28, इतरथा हि कस्माद् बहिर्वदिति ब्रूयु:। न हि विष्णुमित्रो बन्ध्यापुत्रवदवभासत इति कश्चिदाचक्षीत।
36. प्रमाणवार्तिक, 3, 354, अविभागोऽपि बुद्धयात्मा विपर्यासितदर्शनै:। ग्राह्यग्राहक संवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥
37. शांकर भाष्य, 2, 2, 28, तस्मात् यथानुभवं तत्त्वमभ्युपगच्छद्भिर्बहिरेवावभासत इति युक्तमभ्युपगन्तुं न तु बहिर्वदवभासत इति।

वस्तुओं के विज्ञानों की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि एक विज्ञान दूसरे विज्ञान को उत्पन्न करता है, अत: बाह्य वस्तुओं की कोई आवश्यकता नहीं है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इससे अनवस्था-दोष की उत्पत्ति होगी। अत: बाह्य वस्तुओं का अभाव नहीं है।

2. **वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्,** 2, 2, 29—स्वप्न विज्ञान और जागृत विज्ञान के बाधित और अबाधित विषयरूप वैधर्म्य से स्वप्नादि के दृष्टान्त से जागृत ज्ञान निराधार नहीं हो सकता। शंकराचार्य के अनुसार जागृत एवं स्वप्न की वस्तुएँ एक ही कोटि की सत्ताएँ नहीं हैं। स्वप्न और जागृत प्रत्ययों में यही वैधर्म्य है कि स्वप्न-प्रत्यय बाधित होता है तथा जागृत-प्रत्यय बाधित नहीं होता। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाय तो स्वप्न प्रत्यय में मिथ्यात्व निश्चित नहीं किया जा सकता। स्वप्न की वस्तुएँ व्यक्तिगत हैं, पर जागृत की वस्तुएँ सार्वजनिक। स्वप्न की वस्तुएँ संस्कार या स्मृति रूप हैं, पर जागृत की वस्तुओं का साक्षात् प्रत्यक्ष किया जाता है। अत: दोनों को एक ही श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। बौद्ध भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि जिस वस्तु का जागृत अवस्था में प्रत्यक्ष किया जाता है, उसका साधारण रूप में बाध नहीं किया जा सकता।[38]

3. **नभावोऽनुपलब्धे,** 2, 2, 30—यदि बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि को अस्वीकार किया जाय तो तद्जन्य वासना की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि से ही अनेक प्रकार की वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। वासनाओं को अनादि मानने पर भी अन्धपरम्परा न्याय से व्यवहारलोपिनी अप्रतिष्ठित अनवस्था उत्पन्न होगी तथा इससे अभिप्राय की सिद्धि भी न होगी।[39] अन्वय-व्यतिरेक विधि भी बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व का प्रतिपादन करती है। बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि के बिना वासनाओं की उत्पत्ति नहीं हो सकती—यह अन्वय है। पर वासनाओं के बिना भी अर्थ की उपलब्धि स्वीकार है। यह अन्वयव्यतिरेक भी अर्थ का सद्भाव ही प्रतिष्ठापित करते हैं। अन्त में, वासनाएँ संस्कार-विशेष हैं और संस्कार आश्रय के बिना नहीं हो सकते। बौद्ध मत में वासनाओं का कोई आश्रय भी नहीं है, क्योंकि उसकी प्रमाण से उपलब्धि नहीं है।

4. **क्षणिकत्वाच्च,** 2, 2,31—आलयविज्ञान को क्षणिक मानने से वह भी वासना का आश्रय नहीं हो सकता। यदि प्रवृत्तिविज्ञान वासनाओं के अधिकरण नहीं हो सकते तो आलयविज्ञान भी यह कार्य सम्पादित नहीं कर सकता। तीनों काल से सम्बन्ध रखने वाला

---

38. शांकर भाष्य, 2, 2, 29, न शक्यते वक्तु मिथ्या जागरितोपलब्धि रूपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धिवदित्युभयोरन्तरं स्वयमनुभवता।
39. वही, 2, 2, 30, अनादित्वेऽप्यन्धपरं परान्यायेनाप्रतिष्ठेवानवस्था व्यवहारलोपिनी स्यान्नाभिप्रायसिद्धिः।

एक अन्वयी कूटस्थ आत्मा के न होने पर देश, काल और निमित्त की अपेक्षा से वासना के अधीन स्मृति और प्रत्यभिज्ञा आदि व्यवहार नहीं हो सकता।

शून्यवाद का खण्डन करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि इसका पक्ष सर्वप्रमाण विरुद्ध है, इस कारण इसका निराकरण करना उसे आदर प्रदान करना होगा जिसका कि वह पात्र नहीं है। सर्वप्रमाण सिद्ध इस लोक-व्यवहार का कोई भिन्न तत्त्व स्वीकार किए बिना निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि अपवाद के अभाव में उत्सर्ग प्रसिद्ध है।[40]

5. **सर्वथानुपपत्तेश्च,** 2, 2, 32—बौद्ध दर्शन सब प्रकार से असंगत होने से मुमुक्षुओं द्वारा आदरणीय नहीं है। बौद्ध स्वयं परस्पर-विरुद्ध मतों का प्रतिपादन करते हैं। कोई बाह्यार्थवादी है, कोई विज्ञानवादी तथा कोई शून्यवादी है। इस परस्पर-विरोध के कारण कोई भी समझदार व्यक्ति बौद्ध दर्शन को स्वीकार नहीं कर सकता।

7. जैन मत का खण्डन

पूर्व पक्ष—जैन दर्शन जीव, अजीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन सात पदार्थों में विश्वास करता है। संक्षेप में वे दो प्रकार के द्रव्य मानते हैं—अस्तिकाय और अनस्तिकाय। अनस्तिकाय द्रव्य को काल कहते हैं। अस्तिकाय द्रव्य के दो प्रकार हैं, जीव और अजीव। पुनः, अजीव के भी चार भेद हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, और पुद्गल। जैन दर्शन में परिकल्पित अनेक अवान्तर भेदों का वर्णन किया गया है। तत्त्व-मीमांसा की दृष्टि से जैन दर्शन अनेकान्तवादी है तथा ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से वह स्याद्वादी है। यह सप्तभंगी-नय में विश्वास करता है जो निम्न हैं—1. स्यादस्ति, 2. स्यान्नास्ति, 3. स्यादस्ति च नास्ति च, 4. स्यादवक्तव्यः, 5. स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च, 6. स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, 7. स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च। इन सात नयों द्वारा जैन दर्शन किसी वस्तु के सभी पक्षों के व्याख्यान का दावा करता है।

उत्तर पक्ष—अब शंकराचार्य जैन मत का खण्डन करने को प्रस्तुत होते हैं—

1. **नैकस्मिन्नसंभवात्,** 2, 2, 33—एक परमार्थरूप वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्मों का अवस्थित होना सम्भव नहीं है। एक धर्मी में एक ही समय सत्त्व व असत्त्व आदि विरुद्ध धर्मों का शीतोष्ण के समान समावेश सम्भव नहीं है। सप्तभंगी नय द्वारा जो किसी वस्तु के ज्ञान प्राप्त कराने का प्रयत्न किया गया है वह कोई निश्चयात्मक ज्ञान नहीं है, बल्कि अनिर्धारित ज्ञान ही है जो संशय ज्ञान के समान अप्रामाणिक ही होगा। जब सभी वस्तुओं में अनेकान्तत्व की प्रतिज्ञा की गई है तो 'निर्धारण' में भी अनेकान्तत्व होने से

40. शांकर भाष्य 2, 2, 31, शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाण विप्रतिसिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते, नह्ययं सर्वप्रमाणप्रसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यतत्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुमपवादाभाव उत्सर्गप्रसिद्धेः ॥

अनिर्धारणात्मकत्व की प्राप्ति होगी। इस प्रकार निर्धारक व निर्धारण फल में भी अनिर्धारणात्मकत्व का गुण व्याप्त हो जायगा। प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण, व प्रमिति के अनिर्धारित होने पर तीर्थंकरों के उपदेश की सार्थकता ही समाप्त हो जायगी। अस्तिकाय द्रव्यों को अवक्तव्य कहकर पुनः उनका वर्णन करना स्वयं व्याघातक है। यदि स्वर्ग के अस्तित्व व अवधि के विषय में अनिश्चितता है तो कोई व्यक्ति उसे अपना लक्ष्य किस प्रकार निर्धारित कर सकता है?

2. **एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम्**, 2, 2, 34—इसी प्रकार जैन मत में आत्मा में परिच्छिन्नत्व दोष भी प्रसक्त होगा। इससे आत्मा घट आदि के समान अनित्य होगा। जैन मत के अनुसार जीव का वही परिमाण होता है जो शरीर का परिमाण होता है। शरीर परिमाणत्व होने पर आत्मा परिच्छिन्न होगा तथा उसमें अनित्यत्व की प्राप्ति होगी। शरीर का परिमाण अनिश्चित होने के कारण यदि मनुष्य-जीव किसी कर्म विपाकवश हाथी का जन्म प्राप्त करता है तो वह सम्पूर्ण हाथी के शरीर को व्याप्त नहीं कर सकेगा तथा चींटी का जन्म प्राप्त करने पर पूर्ण रूप से चींटी के शरीर में नहीं समायेगा। इसके साथ एक ही जन्म में कौमार, यौवन, वृद्धावस्था की भी प्राप्ति होती है। मनुष्य-जीव इन सभी अवस्थाओं के साथ अपने को किस प्रकार समायोजित कर सकेगा? यदि यह कहा जाय कि जीव अनन्त अवयव वाला है, अतः वे ही अवयव अल्प शरीर में संकुचित हो जाते हैं तथा बड़े शरीर में विकसित हो जाते हैं। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ भी दो प्रकार के विकल्प उत्पन्न हो जाते हैं—जीव के अनन्त अवयव भिन्न-भिन्न स्थानों को ग्रहण करते हैं अथवा एक ही स्थान को ग्रहण करते हैं। यदि वे अवयव भिन्न-भिन्न स्थानों को ग्रहण करते हैं, तो वे अनन्त अवयव किसी परिच्छिन्न देश में नहीं समा सकेंगे। तथा यदि वे अवयव एक ही स्थान को ग्रहण करते हैं, तो जीव को अणुमात्रत्व प्रसंग उपस्थित होगा। पुनः, यदि जी, परिच्छिन्न है तो उसमें अवयवों के आनन्त्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

3. **न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः**, 2, 2, 35—क्रमशः अवयवों के हटने और प्राप्त होने पर भी शरीर परिमाणत्व का अविरोध नहीं है, क्योंकि सावयव होने से आत्मा में विकार आदि दोष प्रसंग होंगे और आत्मा के अनित्य होने पर बन्ध और मोक्ष व्यवस्था बाधित होगी। यदि जैन मत वाले यह कहें कि बृहत् शरीर प्राप्त होने पर कुछ जीवावयव पास आ जाते हैं तथा अल्प शरीर प्राप्त होने पर कुछ जीवावयव दूर हो जाते हैं जिसके कारण जीव को कोई कठिनाई नहीं होती तो इस पर शंकराचार्य कहते हैं कि इससे भी जैन दर्शन की समस्या का समाधान नहीं हो जाता। जीवावयवों के गमन और आगमन से जीव विकारवान हो जायगा तथा इससे उसे अनित्यत्व की प्राप्ति होगी। यह जैन मत की मोक्ष की कल्पना के भी प्रतिकूल होगा, क्योंकि जैन मत के अनुसार जब जीव पुद्गल

बन्धन से मुक्त हो जाता है तो वह तुम्बी के समान ऊर्ध्वगामी होता है। गमन-आगमन करने वाले अवयवों को आत्मा-रूप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इससे जीव विकारयुक्त माना जायगा। हम यह भी नहीं कह सकते कि उनमें कोई एक अवयव आत्मा है, क्योंकि उनका निरूपण करना हमारे लिए बहुत मुश्किल है। हमें यह भी ज्ञात नहीं है कि ये जीवावयव कहाँ से प्रादुर्भूत होते हैं और किसमें विलीन हो जाते हैं। जैन मत के अनुसार आत्मा और उसके अवयव सभी अनिर्धारित हैं।

4. **अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः**, 2, 2, 36—जैन दर्शन का यह मान्य मत है कि जीव की मोक्षावस्था का परिमाण नित्य होना है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उसके आदि और मध्य का परिमाण भी नित्य होगा, अन्यथा एक ही जीव की तीन भिन्न अवस्थाओं को मानना होगा और वह नित्य नहीं रह जायगा। इसका अर्थ यह है कि तीनों के परिमाणों में साम्य हो जायगा जिसके परिणामस्वरूप उसे बड़े या छोटे शरीर में प्रवेश करने की आवश्यकता ही न रहेगी।

उपर्युक्त सभी कारणों से जैन मत स्वीकार्य नहीं हो सकता।

8. ईश्वर के केवलनिमित्तकारणत्व का खण्डन

सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, माहेश्वर इत्यादि सम्प्रदायवादी ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानते हैं। उनके अनुसार उपादान और निमित्त कभी भी एक नहीं हो सकते। लोक में भी ऐसा देखा जाता है कि घट के प्रति मृत्तिका उपादान कारण है तथा कुलाल निमित्त कारण है। इसी प्रकार जड़-पदार्थ, प्रधान या परमाणु सृष्टि के उपादान कारण हैं तथा ईश्वर सृष्टि का केवल निमित्त कारण है। वेदान्ती इस मत का खण्डन करते हैं। उसके अनुसार ईश्वर सृष्टि का केवल निमित्त कारण नहीं है, वरन् उसका उपादान कारण भी है। यह बात देखने पर विचित्र प्रतीत होती है। इसी को सिद्ध करने के लिए वेदान्तियों ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया है—

1. **पत्युरसामंजस्यात्**, 2, 2, 37—यदि ईश्वर जगत् का केवल निमित्त कारण है और उसने अपनी इच्छा से हीन, मध्यम और उत्तम भाव से भिन्न-भिन्न प्राणियों को उत्पन्न किया है तो वह राग, द्वेष इत्यादि दोषों से प्रसक्त हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि प्राणियों के हीन, मध्यम और उत्तम होने में ईश्वर कारण नहीं है, बल्कि प्राणियों के कर्म ही उत्तरदायी हैं तो यह भी मान्य नहीं होगा, क्योंकि कर्म और ईश्वर में प्रवर्त्य और प्रवर्तक भाव है और इससे अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति होगी। ईश्वर हमारे कर्मों को निर्धारित करेगा और हमारे कर्म ईश्वर के कर्मों को निर्धारित करेंगे। यदि इस दोष से बचने के लिए

कहा जाय कि उनके बीच अनादि सम्बन्ध है, तो वर्तमान काल के समान अतीत काल में भी अन्योन्याश्रय दोष होने से अन्ध-परम्परान्याय प्रसक्त होगा। यदि न्याय की तरह लोग कहें कि दोष के कारण ही किसी में प्रवृत्ति देखी जाती है,[41] अत: यदि ईश्वर केवल निमित्त कारण है तो उसमें किसी न किसी प्रकार का दोष अवश्य विद्यमान होगा। ऐसी स्थिति में उसमें अनीश्वरत्व-प्रसंग उपस्थित होगा। योग में ईश्वर को एक पुरुष-विशेष स्वीकार किया गया है। यदि ऐसी बात है तो वह अवश्य ही उदासीन होगा और वह निमित्त कारण कभी नहीं हो सकता।

2. **सम्बन्धानुपपत्तेश्च,** 2, 2, 38—प्रेर्य प्रधान व प्रेरक ईश्वर में सम्बन्ध की अनुपपत्ति होगी, अत: ईश्वर प्रधान का प्रेरक नहीं हो सकता। ईश्वर जो प्रधान और पुरुषों से भिन्न व पृथक् है, इनका ईशिता नहीं हो सकता। यदि उनके बीच सम्बन्ध मान भी लिया जाय तो यह संयोग-सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर, प्रधान व पुरुष निरवयव व अनन्त हैं। इनके बीच समवाय-सम्बन्ध की भी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि इसमें आश्रय-आश्रयिभाव का निरूपण नहीं है। इनके बीच कारण-कार्य-सम्बन्ध भी नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि अभी यह निर्णय करना शेष है कि सृष्टि कार्य है अथवा नहीं। वेदान्ती कहता है कि उसके दर्शन में उपर्युक्त कठिनाइयाँ उत्पन्न नहीं होतीं, क्योंकि वेदान्त में ब्रह्म और माया के बीच तादात्म्य-सम्बन्ध पाया जाता है। वेदान्त श्रुतियों को स्वत: प्रमाणित मानता है जिसमें ब्रह्म को सृष्टि का आदि कारण माना गया है। यदि यह कहा जाय कि प्रतिपक्षी भी तो आगम प्रमाण स्वीकार करते हैं तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वे आगम-ज्ञान से ईश्वर की सर्वज्ञत्व-सिद्धि और सर्वज्ञत्व के ज्ञान से आगम की सिद्धि करते हैं। अत: उनमें अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न हो जाता है। अत: सांख्य-योगवादी की ईश्वर-कल्पना अयुक्त है।

3. **अधिष्ठानानुपपत्तेश्च,** 2, 2, 39—अप्रत्यक्ष व रूपादिहीन प्रधान ईश्वर का अधिष्ठेय नहीं हो सकता। प्रधान जो रूपादि गुणों से विहीन है, वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। अत:, यह ईश्वर की क्रिया का विषय नहीं बन सकता। जिस प्रकार कुम्हार मृत्तिका आदि को अधिष्ठित कर प्रवृत्त करता है, उसी प्रकार ईश्वर प्रधान आदि को अधिष्ठित कर प्रवृत्त नहीं कर सकता, क्योंकि मृत्तिका से प्रधान में विलक्षणता है।

4. **करणवच्चेन्न भोगादिभ्य:,** 2, 2, 40—यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार इन्द्रियाँ अप्रत्यक्ष होने पर भी जीव द्वारा प्रेरित होती हैं, उसी प्रकार अप्रत्यक्ष प्रधान भी ईश्वर से प्रेरित हो सकता है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर जीव के समान

41. न्याय-सूत्र, 1, 1, 18, प्रवर्तनालक्षणा दोषा।

ईश्वर को भी भोग आदि प्रसक्त होंगे। इससे जीवों के समान ईश्वर भी बन्धन में फँस जायगा जो कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता। अत: ईश्वर सृष्टि का केवल निमित्त कारण नहीं है।

5. **अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा**, 2, 2, 41—केवल निमित्तेश्वरवादी प्रधान और जीवों को ईश्वर से पृथक् मानते हैं। अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ईश्वर, प्रधान, पुरुष और अपनी इयत्ता (संख्या और परिमाण) को जानता है कि नहीं। प्रथम विकल्प को स्वीकार करने पर प्रधान, पुरुष व ईश्वर का अन्तवत्त्व (विनाश) अपरिहार्य है, क्योंकि जो परिच्छिन्न होगा, वह अवश्य ही अनित्य होगा। यदि द्वितीय विकल्प को स्वीकार किया जाय तो ईश्वर में असर्वज्ञत्व का प्रसंग उपस्थित हो जायगा।

उपर्युक्त कारणों से शंकराचार्य ईश्वर को सृष्टि का केवल निमित्त कारण न मानकर उसे सृष्टि का निमित्त कारण व उपादान कारण दोनों मानते हैं। ईश्वर के बाहर किसी वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसा होने पर ही ईश्वर की सर्वव्यापकता व सर्वज्ञता अक्षुण्ण रह सकती है।

9. भागवत मत का खंडन

पूर्व पक्ष—भागवत मत के अनुसार ईश्वर सृष्टि का उपादान और निमित्त कारण दोनों है। इसके अनुसार वासुदेव ही निरंजन, ज्ञान-स्वरूप परमार्थ तत्त्व है। वह अपने को चार प्रकार से विभक्त कर वासुदेव व्यूह रूप से, संकर्षण व्यूह रूप से, प्रद्युम्न व्यूह रूप से और अनिरुद्ध व्यूह रूप से प्रतिष्ठित है। वासुदेव परमात्मा है, संकर्षण जीव है, प्रद्युम्न मन तथा अनिरुद्ध अहंकार है। इनमें वासुदेव परा प्रकृति है तथा संकर्षण आदि कार्य हैं। उस भगवान परमेश्वर की अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग द्वारा सौ वर्ष आराधना कर तथा क्लेशों को क्षीण कर भगवान की प्राप्ति की जा सकती है।

शंकराचार्य भागवत मत की सभी बातों का खण्डन नहीं करते। उसका चार प्रकार के व्यूह का सिद्धान्त आराधना-सिद्धान्त इत्यादि शंकराचार्य को मान्य है। परन्तु भागवत का जो उत्पत्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त है, वह उन्हें मान्य नहीं है। इन विरोधी सिद्धान्तों का निम्न प्रकार से खण्डन प्रस्तुत करते हैं—

उत्तर पक्ष—भागवत मत के खण्डन की मुख्य बातें निम्न हैं—

1. **उत्पत्त्यसंभवात्**, 2, 2, 42—वासुदेव से जीव की उत्पत्ति सम्भव न होने से भागवत मत असंगत है। वासुदेव संज्ञक परमात्मा से संकर्षण संज्ञक जीव की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि इससे अनित्यत्व दोष का प्रसंग होगा। जीव के अनित्यत्व से उसकी भगवत्प्राप्ति रूप मोक्ष सम्भव नहीं होगा, क्योंकि कारण की प्राप्ति में यदि कार्य विनष्ट हो जाता है तो कारण की प्राप्ति की सार्थकता ही समाप्त हो जाती है। अत:, जीव की

उत्पत्ति की कल्पना असंगत है।

2. **न च कर्तुः करणम्,** 2, 2, 43—कर्ता से करण की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। इसलिए जीव से मन की उत्पत्ति असंगत है। भागवत कहता है कि संकर्षण नामक कर्ता जीव से प्रद्युम्न नामक करण मन उत्पन्न होता है तथा उस मन से अनिरुद्ध नामक अंहकार उत्पन्न होता है। शंकराचार्य के अनुसार इस बात की पुष्टि में लोक में न तो कोई दृष्टान्त है और न इस सम्बन्ध में कोई श्रुति-प्रमाण ही है। अतः यह असंगत कल्पना है।

3. **विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः**—संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के वासुदेव के समान विज्ञान या भाव आदि होने पर भी उत्पत्ति-असम्भव-दोष का प्रतिषेध नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध जीव, मन तथा अहंकार न होकर स्वयं वासुदेव ही है, क्योंकि इन सबके भीतर वही ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज पाया जाता है जो वासुदेव के भीतर पाया जाता है, तो भी इससे उत्पत्ति-दोष का परिहार नहीं होता। यदि चारों ईश्वर-तुल्य धर्म वाले हैं, तो चार की आवश्यकता ही कहाँ रह जाती है? चार समान ईश्वर होने से उनमें एकात्मकत्व का भी अभाव पाया जायगा। चार ईश्वर मानने से भागवत मत की भी हानि है, क्योंकि इस मत के अनुसार वासुदेव ही एक मात्र परमार्थ तत्त्व है। यदि यह कहा जाय कि ये समान धर्म वाले चारों व्यूह किसी अन्य उच्चतर सत्ता से उत्पन्न हैं तो भी उत्पत्ति का दोष विद्यमान रहेगा। अतिशय-विशेष भेद-वैलक्ष्य के अभाव से वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। कार्य-कारण में अतिशय तो होना ही चाहिए। अतिशय के न होने पर यह निर्धारित करना कठिन हो जायगा कि कौन कार्य है और कौन कारण है। पंचरात्र मत वाले सभी व्यूहों को वासुदेव के ही तुल्य मानते हैं तथा उनमें किसी भी प्रकार का तारतम्य स्वीकार नहीं करते। ऐसी स्थिति में व्यूहों की संख्या केवल चार तक ही सीमित न होकर अनन्त होनी चाहिए, क्योंकि ब्रह्मादि से स्तम्बपर्यन्त समस्त जगत् ही भगवद् तत्त्व की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।[42]

4. **विप्रतिषेधाच्च,** 2, 2, 45—भागवत मत में अनेक परस्पर-विरोधी बातें पाई जाती हैं। इस कारण भी यह मत असंगत ही लगता है। कभी तो ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति बल, वीर्य और तेज को भगवान वासुदेव के गुण-रूप स्वीकार किया जाता है और अन्य स्थलों पर कहा जाता है कि ये स्वयं आत्मा ही हैं अथवा स्वयं वासुदेव ही हैं। इस प्रकार भागवत में परस्पर-विरोधी बातें देखने को मिलती हैं। यह मत वेद-विरोधी भी है, क्योंकि एक स्थल पर ऐसा देखने को मिलता है कि चारों वेदों में परमश्रेय न मिलने के कारण शाण्डिल्य ने

42. शांकर भाष्य, 2, 2, 45, ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्तस्य समस्तस्यैव जगतो भगवद्व्यूहत्वावगमात्।

इस शास्त्र को प्राप्त किया, अर्थात् पञ्चरात्र की शरण ली। यह स्पष्ट रूप से वेद-विरोधी दृष्टिकोण है।

उपर्युक्त सभी कारणों से शंकराचार्य निष्कर्ष निकालते हैं कि भागवत मत दार्शनिक दृष्टि से कभी भी तर्कसंगत मत नहीं है।

शंकराचार्य ने ऊपर जो पूर्व मतों का तर्क द्वारा खण्डन किया है, वे सार्थक व सुव्यवस्थित तर्क के उच्चतम उदाहरण हैं। वे प्रागनुभविक तर्क या कुतर्क नहीं हैं, वरन् लौकिक अनुभवों और श्रुतियों पर आधारित हैं। विरोधी मत का तर्क द्वारा खण्डन करते हुए भी शंकराचार्य तर्क की सीमाओं से अनभिज्ञ नहीं हैं। वे तर्क को सत्य की कसौटी कभी भी स्वीकार नहीं करते।

10. उपसंहार

यद्यपि कई आचार्यों [43] ने तर्क की उपयोगिता का खण्डन किया है, पर इतना तो निश्चित है कि बिना तर्क के हमारा व्यावहारिक जीवन सुचारु रूप से नहीं चल सकता। हमें जीवन में सार्थक तर्क या सुतर्क तथा निरर्थक तर्क या कुतर्क के बीच भेद करना ही होगा। सुतर्क वह है जो अनुभव और आगम पर आश्रित हो[44] तथा कुतर्क वह है जो आगमानपेक्ष तर्क हो। अद्वैत वेदान्त के अनुसार कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो श्रुति या आगम के आधार पर ही जाने जा सकते हैं। अतः उनके विषय में केवल तर्क के आधार पर मनमाने ढंग से निर्णय कर लेना उचित नहीं हैं।[45] पर यदि कोई पदार्थ ऐसा है जिसके लिए आगम प्रमाण की आवश्यकता नहीं है तो उसकी सिद्धि के लिए प्रत्यक्षादि प्रमाणों की तरह तर्क का उपयोग भली भाँति किया जा सकता है।[46] अन्यथा आगमन से अतिरिक्त किसी प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

वास्तविकता यह है कि सुतर्क कभी अनुपयोगी नहीं होता। निरुपयोगिता केवल

---

43. वाक्यपदीय, 1/34,
यत्नेनानुमितोप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥
44. ब्रह्मसूत्र, शां०, भा० 2, 1, 11, अत आगमवशेन आगमानुसारितर्कवशेन च चेतनं ब्रह्म जगतः कारण प्रकृतिश्चेति स्थितम् ॥
45. भामती, 2, 1, 11, केवलागमगम्येर्थे स्वतन्त्रतर्का !
विषये न सांख्याऽिवत् साधर्म्यवैधर्म्य-मात्रेण तर्कः प्रवर्तनीयः।
46. भामती, 1.1, 23, अर्थे श्रुत्येकगम्ये हि श्रुतिमेवाद्रियामहे। मानान्तरावगम्ये तुतद्वशात्तद्व्यवस्थितिः ॥

कुतर्क की होती है।[47] यदि तर्क वस्तुत: सुतर्क है तो उससे आगम-प्रमाण का समर्थन ही होता है, न कि विरोध, क्योंकि प्रमाणों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न होने के कारण उनमें परस्पर-विरोध की कोई सम्भावना ही नहीं होती।[48] यदि दो प्रमाणों के बीच कहीं विरोध दीखता हो तो समझना चाहिए कि उनमें से एक प्रमाण में वस्तुत: प्रमाणत्व है ही नहीं।

47. प० द०, 6।23,
अर्थे श्रुत्येकगम्ये हि श्रुतिमेवाद्रियामहे।
मानान्तरावगम्ये तुतद्वशात्तद्व्यवस्थिति: ॥
48. न्यायकुसु०, ३।19, न मानयोर्विरोधोऽस्ति।

तृतीय अध्याय

ब्रह्मसूत्र

प्रस्तुत ग्रन्थ को ब्रह्मसूत्र इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें "ब्रह्म" के स्वरूप की मीमांसा की गई है। ब्रह्मसूत्र को शारीरक सूत्र भी कहते हैं। "शारीरक" शब्द "शरीर" शब्द से व्युत्पन्न है। 'शरीरे भव: शारीर:, शारीर एव शारीरक:' अर्थात् शरीर में रहने वाला जीवात्मा ही 'शारीर' अथवा 'शारीरक' है। चूँकि ब्रह्मसूत्र में परमात्मा के साथ जीवात्मा का भी प्रतिपादन किया गया है जिसे "शारीर" कहते हैं, इसीलिए ब्रह्मसूत्र का नाम "शारीरक सूत्र" भी है।

प्राचीन समय में सूत्र-ग्रन्थों का नामकरण प्राय: दो प्रकार से किया जाता है : (1) प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से जैसे 'सांख्यसूत्र', 'न्यायसूत्र' इत्यादि। (2) ग्रन्थकार की दृष्टि से जैसे 'पाणिनिसूत्र', 'जैमिनिसूत्र' इत्यादि। प्रस्तुत ग्रन्थ का जो 'ब्रह्मसूत्र' या 'शारीरक सूत्र' नाम है, वह प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से रखा गया है क्योंकि इसमे ब्रह्म और जीव के स्वभाव का वर्णन किया गया है। जैसा पहले कहा गया है कि प्राचीन समय में ग्रन्थकार के नाम से भी पुस्तक का नाम रखा जाता था। इस दृष्टि से बादरायण द्वारा ब्रह्मसूत्र की रचना होने के कारण इसे **बादरायण-सूत्र** भी कहते हैं। ब्रह्मसूत्र वेदान्त के तीन प्रस्थान-ग्रन्थों में एक माना जाता है। शेष दो प्रस्थान-ग्रन्थ हैं : उपनिषद् और गीता। जिसमें ब्रह्मविद्या प्रतिष्ठित की गई है, वह प्रस्थान-ग्रन्थ है।[1] उन्हें वेदान्त-दर्शन का आधार-स्तम्भ माना जाता है क्योंकि वेदान्त दर्शन का प्रतिपादन करने वाले लगभग सभी आचार्यों ने इन ग्रन्थों पर भाष्य लिखा है। महर्षि सदानन्द ने 'वेदान्त' शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है, "मुख्य रूप में उपनिषद् और उसे समझने में सहायक रूप शारीरक सूत्र इत्यादि साहित्य 'वेदान्त' कहे जाते हैं।"[2] शारीरक सूत्र या ब्रह्मसूत्र की रचना का प्रमुख उद्देश्य यह है कि यह उपनिषद् के वाक्यों को सूत्रवत ग्रथित् करता है।[3] उपनिषदों में वर्णित सभी महत्वपूर्ण सिद्धान्त ब्रह्मसूत्र में पाए जा सकते हैं।

---

1. प्रतितिष्ठति ब्रह्मविद्या येषु तत् प्रस्थानम्।
2. सदानन्द, वेदान्तसार, पृ० 3, वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरक सूत्रादीनि।
3. शारीरक भाष्य, 1, 1, 2 वेदान्तवाक्य कुसुम ग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्॥

विष्णुपुराण में 'ब्रह्म' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है : "वृहत् (व्यापक) या बृहण (अपने शरीर की वृद्धि) का कारण होने से तत्त्व '**ब्रह्म**' कहा जाता है।"[4] ब्रह्मसूत्र इसी ब्रह्म की चर्चा करता है। इसके रचयिता बादरायण या वेद-व्यास हैं। वाचस्पति मिश्र ने भामती में वेद-व्यास की चर्चा की है : 'वेदव्यासाय धीमते।' अब हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि बादरायण और वेद-व्यास एक ही हैं या दो हैं। स्वामी बलराम ने अपने योग-भाष्य की भूमिका में लिखा है कि उपर्युक्त दोनों नाम उनहीं महर्षि "कृष्णद्वैपायन" के हैं जिन्होंने महाभारत आदि इतिहासों और अष्टादश पुराणों की रचना की। पर महर्षि पराशर के अनुसार व्यास एक नहीं, अट्ठाइस व्यास हुए हैं जिनके नाम निम्न हैं : स्वयंभू (ब्रह्मा), प्रजापति, शुक्राचार्य, वृहस्पति, सविता, यम, इन्द्र, वसिष्ठ, सारस्वत, त्रिधामा, त्रिशिख, भरद्वाज, अन्तरिक्ष, वर्णी, त्रय्यारुण, धनञ्जय, क्रतुञ्जय, जय, भरद्वाज, गौतम, हर्यात्मा, वाजश्रवामुनि, तृणबिन्दु, ऋक्ष, शक्ति, पराशर, जातुकर्ण, कृष्ण द्वैपायन। जब उपर्युक्त तालिका में बादरायण का उल्लेख नहीं है तो ऐसी परिस्थिति में बादरायण को कृष्णद्वैपायन व्यास से भिन्न मानना अनिवार्य है।

महर्षि जैमिनि और बादरायण का एक-दूसरे के सूत्रों में परस्पर उल्लेख होने के कारण दोनों समसामयिक हैं। जैमिनि का समय ई० पू० द्वितीय शताब्दी माना जाता है। अत: डॉ० दासगुप्त के अनुसार बादरायण का समय ई० पू० द्वितीय शताब्दी ही मानना उचित जान पड़ता है।

ग्रन्थ विभाग—जैसा नाम से ही प्रकट है, ब्रह्मसूत्र की रचना सूत्ररूप में हुई है। इसमें सब मिलाकर 554 सूत्र हैं। विषय के अनुसार सभी सूत्रों को चार अध्यायों में विभक्त किया गया है जिनके नाम क्रमश: निम्न हैं—

(1) समन्वयाध्याय, (2) अविरोधाध्याय, (3) साधनाध्याय, और (4) फलाध्याय।

(1) **समन्वयाध्याय**—जैसा कि नाम से ही प्रकट है, इसमें यह दिखाया गया है कि ब्रह्म या ईश्वर ही सभी श्रुतियों का प्रतिपाद्य विषय है, क्योंकि इसी में विभिन्न शास्त्रों एवं श्रुतियों का 'समन्वय' देखा जा सकता है।

(2) **अविरोधाध्याय**—अविरोध का अर्थ है विरोध का न होना। इसमें जगत् के कारण रूप ब्रह्म या ईश्वर से सम्बन्धित स्मृति और तर्क में अविरोध का प्रतिपादन किया गया है। इसी कारण इसका नाम अविरोधाध्याय रखा गया है। जहाँ ब्रह्म या ईश्वर से पृथक् वस्तु को जगत् का कारण माना गया है, वहाँ स्मृति और तर्क की दोषग्रस्तता का भी इस अध्याय में विचार प्रस्तुत किया गया है।

---

4. विष्णु पुराण, 3, 22, बृहत्वाद् बृहणत्वाच्च तद्ब्रह्मेत्यभिधीयते॥

(3) **साधनाध्याय**—इसमें मोक्ष के साधन-रूप में अभ्यास, वैराग्य इत्यादि का विवेचन किया गया है।

(4) **फलाध्याय**—उपर्युक्त साधन के फलस्वरूप जो साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसका वर्णन चतुर्थ अध्याय में किया गया है। इस कारण इसे फलाध्याय की संज्ञा दी जाती है।

इस प्रकार प्रतिपाद्य विषयों को ध्यान में रखते हुए ग्रन्थ को चार अध्यायों में विभाजित करने के बाद फिर प्रत्येक अध्याय को चार-चार पादों में विभक्त किया गया है। पादों के विभाजन के अतिरिक्त एक और छोटा विभाग है जिसका नाम **अधिकरण** है। अधिकरण का अर्थ है प्रकरण या विषय। एक प्रकरण या विषय के प्रतिपादन करने वाले सूत्रों की समष्टि को अधिकरण कहते हैं। ये अधिकरण कहीं एकसूत्रात्मक हैं तो कहीं अनेकसूत्रात्मक। उदाहरण के लिए, प्रथम अध्याय के प्रारम्भ के चार अधिकरण एकसूत्रात्मक हैं और शेष अधिकरण अनेक सूत्रात्मक हैं। इन अधिकरणों की एक सामान्य विशेषता यह है कि इनमें प्रत्येक के भीतर पाँच अवयव पाए जाते हैं। प्रथम अवयव **विषय** है जो हमारे विचार का लक्ष्य होता है। दूसरे अवयव को **विशय** कहते हैं। विशय का सम्बन्ध उस संदेह या संशय से है जो विषय-वाक्य के सम्बन्ध में हमारे मन में उत्पन्न होता है। तृतीय अवयव **पूर्वपक्ष** और चतुर्थ **उत्तरपक्ष** है। इन चार अवयवों के बाद इस सम्पूर्ण विवेचन का फल बताया जाता है जो पंचम अन्तिम अवयव है। इस प्रकार, प्रत्येक अधिकरण पंचावयव-रूप है। संक्षेप में, ब्रह्मसूत्र के चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय को चार पादों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक पाद के भीतर विषय-भेद के अनुसार कई अधिकरण हैं, और प्रत्येक अधिकरण की रचना एक या अनेक सूत्रों को मिलाकर की गई है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र में (4) चार अध्याय, (16) सोलह पाद, (189) एक सौ नवासी अधिकरण और (554) पाँच सौ चौवन सूत्र हैं।

वाचस्पति मिश्र

वाचस्पति मिश्र दर्शन के एक उद्‌भट विद्वान थे। उन्हें सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कहा जाता है। उन्होंने भारतीय दर्शन के लगभग सभी सम्प्रदायों पर मानक ग्रन्थ लिखे हैं। किसी भी सम्प्रदाय के ऊपर जब वे ग्रन्थ लिखते हैं तो ऐसा लगता है कि वे उसी सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। वाचस्पति मिश्र यद्यपि मूलत: वेदान्ती थे, पर उन्होंने बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा इत्यादि सम्प्रदायों के ऊपर प्रामाणिक भाष्य लिखा है। उनकी अपार विद्वत्ता के कारण ही उन्हें द्वादश-कानन-पञ्चानन कहा जाता है।

जहाँ तक वाचस्पति मिश्र के कार्यकाल की बात है, उन्होंने न्यायसूची निबन्ध में अपने काल का स्वयं उल्लेख कर दिया है। उसके अनुसार उनका समय 841 ई० निश्चित

होता है। भामती व्याख्या सम्भवत: उनकी अन्तिम रचना है। भामती में ही मिश्र जी ने अपनी रचनाओं का क्रम-निर्देश कर दिया है। 'सर्वप्रथम मण्डन मिश्र के विधि-विवेक की व्याख्या **न्याय-कणिका** की रचना की गई, उसके पश्चात् ब्रह्म-सिद्धि की व्याख्या **तत्त्व-समीक्षा** तथा भाट्टपक्षीय शब्द-ग्रन्थ तत्त्व-बिन्दु की रचना की गई। न्याय में उद्योतकर-वार्तिक की व्याख्या **तात्पर्य टीका**, सांख्य में ईश्वरकृष्णकृत कारिकाओं की व्याख्या **सांख्यतत्त्वकौमुदी**, योग में पातञ्जल सूत्रों के व्यास-भाष्य की व्याख्या **तत्त्ववैशारदी**—इन ग्रन्थों का निर्माण हुआ। सबसे अन्त में ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य की व्याख्या भामती की रचना हुई।'[5]

भामती नाम के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ हैं। कुछ लोगों के अनुसार मिश्र जी की पत्नी का नाम भामती था। वे ग्रन्थों की रचना में इतने व्यस्त रहते थे कि दाम्पत्य-जीवन के विषय में सोचने का उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता था। भामती भी पति की सेवा में इतनी रत रहती थीं कि उन्होंने पति को इसके विषय में विचार करने का अवसर ही नहीं दिया। वृद्धावस्था आने पर एक दिन वाचस्पति मिश्र को ध्यान आया कि उन्होंने अपनी पत्नी के प्रति कर्तव्य का पालन नहीं किया। इसके प्रायश्चितस्वरूप उन्होंने व्रत लिया कि वे अपनी पत्नी के नाम एक ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना करेंगे जिससे उनका नाम सदा के लिए अमर हो जाय। भामती ग्रन्थ इसी व्रत का परिणाम है।

भामती के विषय में कुछ अन्य किंवदन्तियाँ भी हैं। कुछ लोग कहते हैं कि भामती मिश्र जी की कन्या का नाम है। कुछ अन्य लोगों के अनुसार 'भामा' नाम की नगरी में रहने के कारण वाचस्पति मिश्र ने अपनी व्याख्या का नाम भामती रखा है। वास्तविकता कुछ भी हो, भामती अद्वैत वेदान्त की एक अमर कीर्ति है।

वाचस्पति मिश्र ने जो ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य की व्याख्या लिखी है, वह पर्याप्त वैदुष्यपूर्ण है। उनमें शंकराचार्य के समान मौलिकता भले ही, न हो, पर शंकराचार्य द्वारा व्यक्त निगूढ़ विचारों को उन्होंने जितनी विदग्धतापूर्वक व्याख्या प्रस्तुत की है, वह अन्यत्र सम्भव नहीं है। जहाँ तक ब्रह्मसूत्र की व्याख्या का प्रश्न है, शंकराचार्य और वाचस्पति मिश्र के विचारों में कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों ही अद्वैतवेदान्ती हैं। अब हम शंकराचार्य और वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रस्तुत ब्रह्मसूत्र की व्याख्या का वर्णन करेंगे।

क्या ब्रह्म जिज्ञास्य हो सकता है?

महर्षि बादरायण ने अथातोब्रह्म-जिज्ञासा द्वारा "ब्रह्म-जिज्ञास्यता" का प्रतिपादन

5. यन्न्यायकणिकातत्त्वसमीक्षातत्त्वविन्दुभिः।
यन्न्यायसांख्ययोगानां वेदान्तानां निबन्धनैः॥

किया है। क्या ब्रह्म सहज रूप में जिज्ञास्य है अथवा उसकी जिज्ञासा के पीछे कोई वास्तविक कारण है ? शंकराचार्य ने ब्रह्म-जिज्ञासा के लिए अध्यास का प्रतिपादन किया है। अब सूत्र और भाष्य के असामञ्जस्य को दूर करने के लिए भामतीकार ने ब्रह्म की जिज्ञास्यता के साथ अध्यास का अन्वय-व्यतिरेक प्रदर्शित करने के लिए एक सामान्य व्याप्ति की स्थापना की है—

1. ब्रह्म जिज्ञासा का विषय नहीं है,
2. असंदिग्ध और निष्प्रयोजन होने के कारण,
3. जो वस्तु असंदिग्ध और निष्प्रयोजन होती है, वह मनीषियों की जिज्ञासा का विषय नहीं होती, जैसे सजग पुरुष की आँखों के सामने प्रखर प्रकाश में रखा घट जैसा असंदिग्ध और काक-दन्त के समान निरर्थक पदार्थ,
4. प्रकृत में ब्रह्म-तत्त्व भी वैसा ही असंदिग्ध और निष्प्रयोजन है,
5. अतः, ब्रह्म जिज्ञासा का विषय नहीं है।[6]

ब्रह्म में असंदिग्धता का उपपादन

विष्णु पुराण में कहा गया है कि "बृहत् या बृहण होने से जीवात्मा ही ब्रह्म कहलाता है।"[7] इस देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शब्दादि रूप इदंकारास्पद बाह्य पदार्थों से भिन्न **"अहम्"** अपरोक्ष अनुभव द्वारा अवगत है। इस प्रकार आत्मा एक असंदिग्ध वस्तु होने के कारण जिज्ञासा का विषय नहीं बन सकता। इस आत्मा के विषय में न तो कोई प्राणी "मैं हूँ या नहीं हूँ"[8] ऐसा सन्देह व्यक्त करता है और न ही "मैं नहीं हूँ"[9] ऐसा **विपर्यय** ही प्रकट करता है। यदि कोई कहे कि हम शरीर से भिन्न आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं करते, बल्कि शरीर-रूप आत्मा का ही ज्ञान प्राप्त करते हैं, क्योंकि "मैं दुर्बल हूँ, स्थूल हूँ और चलता हूँ"[10] इत्यादि अनुभूतियों द्वारा हम शरीर के धर्मों को आत्मा के धर्म समझने लगते हैं। इस आशंका के निवारण के लिए भामतीकार कहते हैं कि शरीर को अहं-प्रत्यय का विषय नहीं माना जा सकता। यदि शरीर को अहं-प्रत्यय का विषय माना जाय तो अहं-पदार्थ में पूर्व और पर काल की एकता का अवगाहन करने वाली प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी। इसका

6. भामती, 1, 1, अध्यास-विचार, अथ यद्संदिग्धमप्रयोजनं च न तत्प्रेक्षावत्प्रतिपित्सागोचरः, यथा समनस्केन्द्रियसंन्निकृष्टः स्फीता लोकमध्यवर्ती घटः करटदन्ता वा, तथा चेदं ब्रह्मेति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः।
7. विष्णु-पुराण, 3, 22 बृहत्वाद् बृहणत्वाच्च तद् ब्रह्मेत्यभिधीयते।
8. अहं वा नाहं वा।
9. नाहमेव।
10. अहं कृशः, स्थूलः, गच्छामि।

कारण यह है कि बाल्य और वृद्धावस्था के शरीर एक नहीं होते, अतः उनके बीच एकता की प्रत्यभिज्ञा होनी असम्भव है। यदि बाल और वृद्ध शरीरों में कुछ भी एकरूपता होती, तब उसे अहं-पदार्थ माना जा सकता था, किन्तु वैसा सम्भव नहीं है। यह बिलकुल निश्चित है कि बाल्यावस्था, किशोरावस्था तथा युवावस्था के शरीरों के वृद्धावस्था में व्यावृत्त हो जाने पर भी जो अहं पदार्थ है, वह सदा अनुवृत्त रहता है। इससे स्पष्ट है कि अहं-पदार्थ शरीरादि पदार्थों से सर्वथा भिन्न है। जिसे प्रकार एक धागे में पिरोए हुए फूल एक-दूसरे के स्थान से व्यावृत्त होते जाते हैं, किन्तु धागा सभी फूलों में अनुवृत्त रहता है, ठीक उसी प्रकार बाल्य व वृद्धावस्था के शरीर परस्पर-व्यावृत्त होते हुए भी आत्म-तत्त्व सदा अनुवृत्त रहता है और इसी कारण आत्म-तत्त्व सभी प्रकार के शरीरादि से भिन्न है।[11]

केवल शरीरों की बाल्यादि-अवस्थाओं के व्यावृत्त होने पर ही अहंकारास्पद पदार्थ की अनुवृत्ति नहीं देखी जाती, अपितु एक व्यक्ति अपने स्वप्न में देव-शरीर पाकर देव-सुलभ भोगों का उपभोग करता है, जागने पर वह व्यक्ति अपने को मनुष्यशरीर में पाकर यह अनुभव करता है कि स्वप्न-शरीर में प्राप्त देव-शरीर से यह मनुष्य-शरीर सर्वथा भिन्न है, पर मैं वही हूँ। आत्म-तत्त्व सदा दोनों में अनुवृत्त रहता है।

इसी प्रकार इन्द्रियों को भी अहं-प्रतीति का विषय नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन्द्रियों के भिन्न होने पर भी अहम् की एकता अनुभूत होती है। उदाहरण के लिए, मैं कहता हूँ कि "जो मैंने इसे देखा, उसे ही अब मैं स्पर्श करूँगा।"[12] इस उक्ति से स्पष्ट है कि आत्मा इन्द्रियों से भिन्न है। बुद्धि और मन को भी अहं-प्रतीति का विषय नहीं माना जा सकता, क्योंकि "मैं बुद्धि से निश्चय करूँगा"[13] और "मैं मन से संकल्प करूँगा"[14] इत्यादि उक्तियों से स्पष्ट है कि अध्यवसान क्रिया का कारण बुद्धि, संकल्प क्रिया का कारण मन है तथा उनका कर्त्ता अहम्-पदार्थ है। करण कर्त्ता का स्थान ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि कर्त्ता-करण में भेद है।

अब यहाँ हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को अहं-पदार्थ नहीं माना जा सकता तो **"अहं कृशः, अहं अन्धः, अहं संकल्पयामि, अहं अध्यवस्यामि"** इत्यादि वाक्य व्यवहार में क्यों कहे जाते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भामतीकार कहते हैं कि उक्त स्थलों पर जो शरीर, इन्द्रिय, मन या बुद्धि के साथ

11. भामती, 1, 1, अध्यास-विचार, तस्माद्येषु व्यावर्त्यमानेषु यदनुवर्तते तत्तेभ्योभिन्नं, यथा कुसुमेभ्यः सूत्रम्। तथा च बालादि शरीरेषु व्यावर्तमानेष्वापि परस्परमहंकारास्पदमनुवर्तमानं तेभ्यो भिद्यते॥
12. योऽहमिदमद्राक्षम्, स एवाहमिदानीमिदं स्पृशामि।
13. बुद्धयाऽध्यवस्यामि।
14. मनसा संकल्पयामि।

आत्मरूपता स्थापित की गई, वह वैसा ही गौण व्यवहार है जैसा कि "मञ्चाः क्रोशन्ति" में मञ्च के साथ मञ्चस्थ पुरुष की एकरूपता देखी जाती है। इस प्रकार "इदम् इदम्" इस प्रकार के प्रतीत होने वाले शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इत्यादि विषयों से भिन्न "अहम्" के निश्चित अनुभव के विषयीभूत आत्मा में संदिग्धत्व न होने के कारण जिज्ञासत्व सम्भव नहीं है।

ब्रह्म में निष्प्रयोजनत्व का उपपादन

ब्रह्म के विषय में जो दूसरी आशंका उठाई जाती है, वह यह है कि ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान का कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिए भी वह जिज्ञासा का विषय नहीं बन सकता। अनुमान इस प्रकार है :

"आत्मा जिज्ञास्यो न भवति,
निष्प्रयोजनत्वात्,
काकदन्तवत्"
अर्थात् "आत्मा जिज्ञासा का विषय नहीं है,
निष्प्रयोजन होने से,
काक-दन्त के समान"

आत्मा की निष्प्रयोजनता को सिद्ध करने के लिए भामतीकार कहते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति करना ही वेदान्त का लक्ष्य है। अज्ञान के कारण ही मनुष्य ज्ञान-स्वरूप आत्मा को कर्त्ता और भोक्ता के रूप में मान लेता है। पर यह अज्ञान अनादि रूप है। इसी प्रकार आत्मा भी अनादि है। अब हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि दो पदार्थ जो अनादि काल से साथ-साथ चले आ रहे हैं, उनके बीच नाश्य-नाशक भाव किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? दो साथ-साथ चलने वाले पदार्थों का परस्पर-विरोध नहीं माना जा सकता।

यहाँ एक अन्य आशंका भी उठाई जाती है। ऐसा कहा जाता है कि जिस आत्मज्ञान के द्वारा प्रपञ्च की निवृत्ति होती है, वह अकर्त्ता और अभोक्ता है। वह विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप है जिसका ज्ञान हमें उपनिषदों के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। पर साधारण व्यक्ति कर्त्ता-भोक्ता से भिन्न किसी अकर्त्ता-अभोक्ता आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। जब ऐसी आत्मा का कोई अस्तित्व ही नहीं है तो उसके अज्ञान का कोई प्रश्न ही क्यों उत्पन्न होगा ? अनुभव-विरुद्ध किसी अकर्त्ता-अभोक्ता के अस्तित्व में कैसे विश्वास किया जा सकता है ? इतना होने पर भी यदि वेद-उपनिषद् अकर्त्ता-अभोक्ता के अस्तित्व की बातें करते हैं तो यह मुख्यार्थक न होकर औपचारिक अथवा गौणार्थक ही माना जायगा।

पूर्व-पक्ष द्वारा उठाई गई उपर्युक्त आशंकाओं का परिहार करने के लिए वाचस्पति

मिश्र यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि ब्रह्म जिज्ञास्य है क्योंकि आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान में न तो असंदिग्धता है और न निष्प्रयोजनता ही। इसके प्रतिपादन के लिए वे अध्यास-भाष्य प्रारम्भ करते हैं।

अध्यास-भाष्य

अध्यास-भाष्य के दो भाग हैं : प्रथम अध्यास की अनुपपत्ति एवं द्वितीय अध्यास की उपपत्ति।

अध्यास की अनुपपत्ति

शंकराचार्य एवं वाचस्पति मिश्र दोनों ने सर्वप्रथम अध्यास की अनुपपत्ति को प्रदर्शित किया है। अध्यास वहीं सम्भव होता है जहाँ आरोप्य व आरोप्यमाण वस्तु के भीतर कोई समानता हो। पर यदि दोनों के बीच आत्यन्तिक विरोध हो तो अध्यास की सम्भावना तनिक भी उत्पन्न नहीं होती। यही बात आत्म एवं अनात्म वस्तुओं पर लागू होती है।

आत्म और अनात्म वस्तुओं के आत्यन्तिक विरोध को प्रकट करने के लिए आत्मा के लिए **"अस्मत्"** (अहं) शब्द का प्रयोग किया गया है तथा अनात्म वस्तुओं के लिए **"युष्मत्"** (त्वं) शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह है कि अहंकार का विरोधी जैसा त्वंकार है, वैसा इदंकार नहीं है। चिदात्मा विषयी है तथा शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं शब्दादि सब विषय कहे जाते हैं। विषय की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है : **"बिसिन्वन्ति निबध्नन्ति विषयिणमिति विषयः"** अर्थात् विषय ज्ञान-रूपी विषयी पदार्थ को अपने साथ ऐसा बाँध देते हैं कि "घट ज्ञानम्", "पट ज्ञानम्" इस प्रकार विषय का सहयोग पाए बिना ज्ञान का निरूपण ही नहीं हो सकता। आत्मा एवं अनात्म जगत् के परस्पर अध्यास की अनुपपत्ति का मुख्य कारण है : आत्म एवं अनात्म पदार्थों का आत्यन्तिक विरोध। शुक्ति और रजत के समान रूपवान पदार्थों का ही परस्पर विनिमयात्मक अध्यास लोक-प्रसिद्ध है। प्रखर प्रकाश और गहन अंधकार का कभी शुक्ति-रजत के समान अध्यास नहीं देखा जाता। शंकराचार्य ने इस तथ्य को निम्न प्रकार व्यक्त किया है : "त्वम्-प्रतीति से ग्राह्य 'विषय' तथा अहम्-प्रतीति से ग्राह्य 'विषयी' के अंधकार और प्रकाश के समान परस्पर-विरुद्ध स्वभाव होने के कारण अन्योन्यरूपता युक्तिसंगत न होने से उन दोनों के धर्मों की भी अन्योन्यरूपता नहीं बनती है। इसलिए अहं-प्रतीति से ग्राह्य चैतन्यस्वरूप आत्मा में त्वम्प्रतीति से ग्राह्य विषय का और उसके धर्मों का परस्पर-अध्यास तथा इसके विपरीत, विषयी और उसके धर्मों का तथा विषय और उसके धर्मों का परस्पर-अध्यास मिथ्या ही समझना चाहिए। फिर भी एक-दूसरे में अन्योन्यरूपता तथा उन दोनों के धर्मों का एक-दूसरे में आरोपण करके दोनों के अत्यन्त भिन्न होने पर भी एक-दूसरे के भेद को

न जानने के कारण सत्य तथा अनृत दोनों को मिलाकर **"अहमिदम्"** और **"ममेदम्"** इस प्रकार का मिथ्या-ज्ञाननिमित्तक लोकव्यवहार अनादि परम्परा से चला आ रहा है।"[15]
"इतरेतरभाव" का अर्थ होता है : अन्य पदार्थों में अन्यरूपता, जैसे शुक्ति में रजतरूपता। यहाँ तादात्म्य जो अपेक्षित है, उसकी उपपत्ति न होने के कारण आत्मा व अनात्मा का अध्यास नहीं हो सकता।

यदि कोई आशंका करे कि जैसे जपाकुसुम और स्फटिक रूप दो धर्मी पदार्थों का **तादात्म्याध्यास** न होने पर भी स्फटिक में जपाकुसुम के आरुण्य धर्म का अध्यास देखा जाता है, उसी प्रकार आत्म और अनात्म पदार्थों का परस्पर तादात्म्याध्यास न होने पर भी अनात्मभूत बुद्ध्यादि के कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मों का अध्यास क्यों नहीं उत्पन्न हो सकता? इस आशंका के निवारण के लिए **"तद्धर्माणां सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः"** का प्रयोग किया गया है। यहाँ "इतरेतर" शब्द का अर्थ है : अन्यान्य धर्मी में अन्यान्य धर्मों का भाव, अर्थात् **धर्माध्यास** की भी उपपत्ति नहीं हो सकती। धर्माध्यास दो प्रकार का हो सकता है :

(1) **रूपवान पदार्थ में रूपवान पदार्थ का धर्माध्यास**—जैसे स्फटिकादि पदार्थों में जपाकुसुम के आरुण्य का अध्यास।

(2) **रूपवान पदार्थ में अरूपवान पदार्थ का धर्माध्यास**—जैसे लौह-पिण्ड और अग्नि का तादात्म्य हो जाने पर अग्नि के दाहकत्वादि धर्मों का लौह-पिण्ड में अध्यास हो जाता है।

प्रथम प्रकार का धर्माध्यास नियमतः स्फटिक के समान रूपयुक्त पदार्थों में ही पाया जाता है, किन्तु आत्मा रूपवान नहीं है। अतः, उसमें धर्म-प्रतिबिम्बात्मक धर्माध्यास सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में अरूपवान आत्मा में अनात्म पदार्थों के अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मों का प्रतिबिम्ब कैसे उपपन्न होगा?

द्वितीय प्रकार का धर्माध्यास भी सम्भव नहीं है क्योंकि लौह-पिण्ड में अग्नि के धर्मों का अध्यास इसलिए सम्भव हुआ कि अग्नि भले ही अरूपवान हो, पर लौह-पिण्ड तो

---

15. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, उपोद्घात, युष्मदस्मत् प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोः इतरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतर भावानुपपत्तिः इति; अतोऽस्मत्प्रत्यगोचरे विषयिणिचिदात्म के युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः, तद्विपर्येण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्। तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्य धर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेन अत्यन्त-विविक्तयोः धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृतेमिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

रूपवान ही होता है। पर आत्मा में अनात्म वस्तुओं के धर्मों का अध्यास इसलिए सम्भव नहीं है कि आत्मा अरूपवान वस्तु है जिसमें किसी अनात्म वस्तु का अध्यास कैसे सम्भव होगा? ऐसी स्थिति में दोनों का एक-दूसरे पर अध्यास मिथ्या ही हो सकता है।[16] अर्थात् यहाँ अध्यास की कल्पना नहीं की जा सकती।

अध्यास की उपपत्ति

विषय और विषयी के अंधकार और प्रकाश के समान अत्यन्त भिन्न होने पर भी एक-दूसरे के भेद को न जानने के कारण सत्य और अनृत को मिलाकर **"अहमिदम्"** और **"ममेदम्"** इस प्रकार का मिथ्यानिमित्तक लोक-व्यवहार अनादि काल से चला आ रहा है। यहाँ अध्यास का कारण **अविवेक** या **अज्ञान** दिया जा रहा है। विषयी और विषय में भेदाग्रह अर्थात् भेद का ग्रहण न होने के कारण ही अध्यास की उत्पत्ति होती है। व्याप्ति है : **"यत्र यत्र अध्यासः तत्र तत्र भेदाग्रहः"** अर्थात् जहाँ-जहाँ अध्यास होता है, वहाँ भेदाग्रह अवश्य होता है। यहाँ अध्यास व्याप्य और भेदाग्रह व्यापक है। हम जानते हैं कि यह सर्वमान्य नियम है कि व्यापक का निषेध करने से व्याप्य का स्वतः निषेध हो जाता है। भेदाग्रह का विरोधी भेद-ग्रह है। जहाँ-जहाँ भेद-ग्रह या विवेक रहेगा, वहाँ अध्यास की उत्पत्ति नहीं हो सकती। पहले जो अध्यास की अनुपपत्ति के विषय में चर्चा की गई, वह तब सम्भव होता जब कि **"अहम् अहम्"** इस व्यावहारिक अनुभव में विशुद्ध आत्म-तत्त्व परिलक्षित होता। किन्तु हम जानते हैं कि अहं-प्रत्यय का विषय विशुद्धात्मा न होकर जीवात्मा ही होती है। कर्तृत्वादि समस्त उपाधियों से रहित, अनन्त, आनन्दस्वरूप, चैतन्य, एकरस, उदासीन, एक, अद्वितीय आत्म-तत्त्व जो श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणों में प्रतिपादित है, ऐसा शुद्ध आत्म-तत्त्व व्यावहारिक "अहम्" का विषय नहीं। ऐसी स्थिति में आत्म-तत्त्व का अनुभव या भेदाग्रह सुलभ हो जाता है। भेदाग्रह सुलभ होने से अंध्यास भी उत्पन्न हो जाता है।

आक्षेपवादी जो यह कहते हैं कि कर्तृत्वादिरहित शुद्ध आत्म-तत्त्व के प्रतिपादक उपनिषदादि शास्त्र गौणार्थक हैं, यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि जब शुद्ध आत्म-तत्त्व के प्रतिपादक श्रुत्यादि वाक्य उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल और उपपत्ति नामक तात्पर्यग्राहक लिंगों की कसौटी पर खरे उतर रहे हैं, तब उन्हें गौणार्थक इन्द्र भी सिद्ध नहीं कर सकते। उपनिषद् वाक्य ही वास्तविक शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, व्यापक आत्म-तत्त्व के प्रकाशक हैं, लौकिक अनुभव नहीं, क्योंकि अहमनुभव तो प्रदेश-भाग में सीमित एवं

---

16. अध्यासो मिथ्येति युक्तं भवितुम्।

अनेकविध शोक-दुःखादि प्रपञ्च में फँसे हुए आत्मा को ही विषय करता है। अतः, वह अनुभव द्वारा बाधित होकर शुद्ध आत्म-तत्त्व का प्रकाशक नहीं हो सकता।

शंकाएँ

कुछ लोग अज्ञान के कारण अहं-प्रतीति के विषय जीवात्मा को ही वास्तविक आत्मा मान बैठे हैं, पर इसे तात्त्विक नहीं कहा जा सकता। **"अहमिहैवास्मि सदने जानानः"**, इस प्रतीति के द्वारा आत्मा को एक घर के कोने में ही परिच्छिन्न बताया गया है जबकि सभी लोग जानते हैं कि आत्मा व्यापक है। "अहमिहैवास्मि" इस प्रतीति में जो प्रादेशिकत्व (एतद्देशावच्छिन्नत्व) प्रतीत होता है, वह शरीर के लिए प्रयुक्त है, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि शरीर के लिए "अहम्" शब्द का कभी भी प्रयोग नहीं किया जाता। यदि यह कहा जाय कि "अहम्" शब्द **गौणी वृत्ति** से शरीर का ही बोधक है, तो **"अह जानानः"** ऐसा व्यवहार नहीं हो सकेगा क्योंकि शरीर न तो ज्ञानस्वरूप है और न ज्ञान का आश्रय ही। "अहम्" शब्द का शरीर में गौण प्रयोग भी सम्भव नहीं है, क्योंकि भट्टपाद ने लिखा है "जहाँ 'सिंह' शब्द माणवक में लक्ष्यमाण माणवक गत क्रूरत्व, शूरत्व आदि गुणों के सम्बन्ध से प्रवृत्त हुआ है और ऐसा वक्ता और श्रोता दोनों को निश्चय होता है, वहाँ ही सिंहादि शब्द गौण माने जाते हैं।"[17] अर्थात् गौण प्रयोग के लिए मुख्यार्थ (सिंह) और गौणार्थ (माणवक) में भेद का निश्चय भी अनिवार्य है। जहाँ माणवक में 'सिंह' शब्द का गौण प्रयोग होता है, वहाँ भी अनुभव के द्वारा माणवक व सिंह का भेद सिद्ध होता है। इसी प्रकार यदि "अहम्" शब्द का शरीर में गौण प्रयोग माना जाता है, तब "अहम्" शब्द के मुख्य और गौण अर्थों का भेद किसी प्रमाण से सिद्ध होना चाहिए था, किन्तु अभी तक देहादि से भिन्न किसी अत्यन्त प्रसिद्ध आकार में प्रस्फुटित मुख्य अर्थ अनुभूत नहीं हुआ जिसकी मुख्य मानकर "अहं" शब्द शरीर में गौण रूप से प्रवृत्त होता। यह नियम है, **"यत्र यत्र गौणार्थत्वम् तत्र तत्र मुख्यार्थाद् भेदः"** यहाँ गौणत्व व्याप्य है और मुख्यार्थ से भेद व्यापक है। प्रकृत में व्यापक सिद्ध न होने के कारण शरीरादि में "अहम्" शब्द का गौण प्रयोग सम्भव नहीं है।

ऊपर सिद्ध किया गया कि "अहम्" शब्द का प्रयोग शरीर के लिए नहीं किया गया है। इसका प्रयोग आत्मा के लिए ही किया गया है जो शरीर के समान प्रादेशिक व परिच्छिन्न है। "अहमिहैवास्मि" इस भ्रमात्मक प्रतीति में प्रमाणता लाने के लिए शरीरादि के समान आत्मा को भी प्रादेशिक व परिच्छिन्न मान लिया जाय तो क्या बुराई है? इस

17. भट्टपाद, तं० वा० लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता।

प्रश्न के उत्तर में वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि आत्मा को प्रादेशिक और परिच्छिन्न नहीं माना जा सकता। यदि आत्मा को प्रादेशिक मान लिया जाय तो प्रश्न उठेगा कि आत्मा को **'अणु'** परिमाण वाला माना जाय कि मध्यम परिमाण वाला माना जाय। अणु परिमाण मानने पर आत्मा "स्थूलोऽहम्", "दीर्घोऽहम्" ऐसा व्यवहार नहीं हो सकेगा। इसके विपरीत, यदि आत्मा को शरीर के समान मध्यम-परिमाण वाला मानने पर वह भी शरीर के समान सावयव और अनित्य हो जायगा। यहाँ एक प्रश्न और उत्पन्न होगा। प्रश्न यह है कि अवयवी आत्मा के प्रत्येक अवयव में पृथक्-पृथक् चैतन्य माना जाय अथवा अवयव-समुदाय में चैतन्य माना जाय? प्रत्येक अवयव को चेतन मानने पर एक ही शरीर को अनेक चेतन-केन्द्रों द्वारा शासित होना होगा। विभिन्न चेतन-केन्द्रों में परस्पर-एकवाक्यता न होने के कारण एक ही शरीरका विरुद्ध विविध दिशाओं में संचालन होगा जिसके फलस्वरूप शरीर या तो बिखर जायगा या विपरीत आकर्षणों में पड़कर निष्क्रिय और स्तब्ध रह जायगा। यदि कहा जाय कि चैतन्य पृथक्-पृथक् चेतन-केन्द्रों में न रहकर अवयव-समुदाय में निवास करता है तो एक अवयव के बिखर जाने पर आत्मा नष्ट हो जायगी। सभी अवयवों में अविनाभाव तो देखा नहीं जाता, फलत: जब भी कोई एक अवयव विशीर्ण हो जाता है, तभी उसके अभाव हो जाने पर चैतन्य समाप्त हो जायगा।

क्या बौद्ध-सम्मत **विज्ञान-क्षण** को अहं-प्रतीति का विषय माना जा सकता है? उत्तर में वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि नहीं, क्योंकि अहं-प्रतीति एक स्थिर वस्तु को विषय करती है और विज्ञान अस्थिर और क्षणिक हैं। इस प्रकार अहं-प्रतीति का कोई विशुद्ध एक विषय सिद्ध न होने के कारण इसे अध्यासात्मक ही मानना पड़ता है।

ऊपर सिद्ध किया गया कि विषयी और विषय का तादात्म्य गौण नहीं है, बल्कि मिथ्यानिमित्तक है जिसके कारण एक वस्तु और उसके धर्मों का दूसरी वस्तु और उसके धर्मों पर **अध्यास** होता है। यह अध्यास एक-दूसरे के भेद को न जानने के कारण अर्थात् **इतरेतराविवेकेन** होता है जिसके परिणामस्वरूप एक वस्तु की दूसरी वस्तु के रूप में अन्योन्यरूपता अर्थात् **अन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकताम्**, एक वस्तु के धर्मों का दूसरी वस्तु के ऊपर अध्यास अर्थात् **अन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्य** तथा सत्य और अनृत दोनों को मिलाकर अर्थात् सत्यानृतेमिथुनीकृत्य "अहमिदम्" और "ममेदम्" इस प्रकार का मिथ्याज्ञाननिमित्तक लोक-व्यवहार अनादि परम्परा से चला आ रहा है, अर्थात् **नैसर्गिकोऽय लोकव्यवहारः।**

यहाँ शंकराचार्य ने व्यवहार को **मिथ्याज्ञाननिमित्तक** स्वीकार किया है। मिथ्याज्ञान

का अर्थ है : अध्यास। यही अध्यास उक्त व्यवहार[18] का निमित्त है। "अध्यास सत्त्वे व्यवहार सत्वम्, अध्यासाभावे व्यवहाराभाव:" अर्थात् जहाँ अध्यास होता है वहीं व्यवहार की निष्पत्ति होती है तथा जहाँ अध्यास नहीं होता, वहाँ व्यवहार की निष्पत्ति नहीं की जा सकती। यहाँ अध्यास और व्यवहार के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की गई है। अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि व्यवहार का कारण तो अध्यास हो गया, पर अध्यास का क्या कारण है? इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि **अविवेक** (भेद का अग्रहण) ही अध्यास का कारण है। दो अत्यन्त विविक्त धर्मियों में विवेक या भेद का ग्रहण न होने के कारण ही अध्यास की उत्पत्ति होती है।

यहाँ एक शंका और उत्पन्न होती है। जहाँ दो धर्मी वस्तुत: विविक्त हों, किन्तु उनके भेद का ग्रहण न हो रहा हो, तब उनमें तादात्म्याध्यास घटित हो जाता है। उदाहरण के लिए शुक्ति और रजत वस्तुत: दो भिन्न पदार्थ हैं, किन्तु उनका भेद-ग्रह न होने के कारण **"इदं रजतम्"** इस प्रकार का तादात्म्य-भ्रम हो जाता है। इनके विपरीत, हम जानते हैं कि परमार्थ सत् आत्मा से भिन्न संसार में किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है तो आत्मा का किसके साथ भेदाग्रह और तादात्म्याध्यास स्थापित किया जायगा? इस शंका का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं : **"सत्यानृते मिथुनीकृत्य"**। यहाँ चिदात्मा सत्य पदार्थ है तथा शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि इत्यादि अनृत पदार्थ हैं। इन दोनों धर्मियों को एक युगल के रूप में बुद्धिस्थ करना ही मिथुनीकरण है। इसे **संसर्गाध्यास** भी कहा जाता है। वास्तव में सत्य और अनृत का मिथुनीकरण नहीं हो सकता, यह मिथुनीकरण अवास्तविक या मिथ्याज्ञाननिमित्तक ही हो सकता है।

हम जानते हैं कि प्रतीयमान पदार्थ का ही आरोपण किया जाता है। अप्रतीयमान पदार्थ का आरोपण नहीं किया जाता। दूसरे शब्दों में अध्यस्यमान पदार्थ की प्रतीति हो जाने पर ही वह पूर्वदृष्ट कहा जाता है और पूर्वदृष्ट पदार्थ का ही अन्यत्र अध्यास होता है। पर हम यह भी जानते हैं कि अध्यास के बाद ही रजतादि की प्रतीति होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अध्यास और प्रतीति के बीच **अन्योन्याश्रय** सम्बन्ध पाया जाता है। क्या यह दोषपूर्ण नहीं कहा जायगा? इस शंका का परिहार करते हुए शंकराचार्य ने **"नैसर्गिक"** शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ स्वाभाविक या अनादि है। प्रतीत्यादि रूप व्यवहार अनादि है। अत:, उसके कारण अध्यास में भी अनादिता ध्वनित होती है। बीज-वृक्ष प्रवाह के समान अनादि पदार्थों में अन्येऽन्याश्रयता नहीं मानी जाती।

18. पंचपादिकाविवरण, पृ० 62, अभिज्ञा, अभिवदनम्, उपादानम्, अर्थक्रिया इति चतुर्विध: ॥

अध्यास

अद्वैत वेदान्त में अध्यास का सर्वाधिक महत्त्व है। बिना अध्यास के लोक-व्यवहार बिलकुल असम्भव है। अत:, इस अध्यास का विस्तृत विवेचन करना नितान्त आवश्यक है।

"अध्यास" को अद्वैत वेदान्त में भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषित करने की चेष्टा की गई है। शंकराचार्य ने अध्यास की निम्न परिभाषा दी है : "दूसरे स्थान में पहले देखी हुई वस्तु का स्मृति-रूप अवभास अध्यास है।"[19] उदाहरण के लिए, रज्जु-सर्प ज्ञान में रज्जु "परत्र" वस्तु है जिसमें पहले देखी गई वस्तु "सर्प" का यहाँ स्मृति-रूप में अवभास है।

यहाँ अवभास शब्द के अर्थ को जान लेना आवश्यक है। भामती में वाचस्पति मिश्र ने अवभास की विशेष व्याख्या प्रस्तुत की है। अवभास को परिभाषित करते हुए वे लिखते हैं : "अवसन्न (अवसादयुक्त) या अवमत (तिरस्कृत) आभास अवभास कहा जाता है।"[20] साधारण बोलचाल की भाषा में भी जब हम 'अवभास' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उससे हमारा यही मन्तव्य होता है कि अवभासित वस्तु मिथ्या है। वस्तु कुछ और है, पर वह अन्य रूप में भासित हो रही है। इसीलिए अध्यास का संक्षिप्त लक्षण है : **"मिथ्याज्ञान को ही अध्यास** कहते हैं।"[21] अध्यास का मिथ्यात्व इस बात से प्रकट होता है कि वह उत्तर काल में प्रत्ययान्तर से बाध हो जाता है।[22] शंकराचार्य ने अध्यास की एक और परिभाषा दी है जिसके अनुसार "एक वस्तु में दूसरी वस्तु की बुद्धि प्राप्त होना अध्यास कहा जाता है।"[23] संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मिथ्या या विपरीत ज्ञान ही अध्यास कहा जाता है।

अध्यास का विश्लेषण

(1) किसी भी अध्यास के लिए कम से कम दो वस्तुओं की आवश्यकता होती है, प्रथम **आरोप्यमाण वस्तु** अर्थात् आरोप का विषय तथा द्वितीय **आरोपणीय वस्तु**। सूत्र में "परत्र" शब्द आरोप्यमाण है तथा पूर्वदृष्ट आरोपणीय है।

---

19. स्मृतिरूप : परत्र पूर्वदृष्टावभासः।
20. भामती, पृ० 18, अवसन्नोऽवमतो वा भासोऽवभासः।
21. वही, मिथ्याज्ञानमध्यासः।
22. वही, प्रत्ययान्तर बाधश्च अवसादोऽवमानो वा॥
23. अध्यासो नाम अतस्मिन्तद्बुद्धिः।

(2) अध्यास के लक्षण में **"पूर्वदृष्ट"** पद आरोपणीय वस्तु की असत्यता का उपस्थापक है। अध्यास के लिए पूर्वकालीन वस्तु का दृष्टत्व मात्र उपयोगी है, वस्तु-सत्य नहीं। इसीलिए, "पूर्वदृष्ट" पद में "दृष्ट" शब्द का प्रयोग किया गया है।[24]

(3) यद्यपि आरोपणीय वस्तु का दर्शन आरोप के लिए आवश्यक है, तथापि उसका वर्तमान दर्शन आरोप में उपयोगी नहीं है। इसीलिए यहाँ लक्षण में **"पूर्व"** शब्द संयुक्त किया गया है।[25]

(4) आरोपणीय वस्तु का वर्तमान दर्शन न होने के कारण ही वह **अनिर्वाच्य** है और इसी कारण वह अनृत है।[26]

(5) यद्यपि अध्यास में आरोपणीय वस्तु अनृत है, पर अध्यास की निष्पत्ति के लिए आरोप्यमाण वस्तु का सत्यत्व अनिवार्य है। आरोप के विषय के सत्यत्व का प्रतिपादन **"परत्र"** शब्द द्वारा किया गया है।[27] आरोप-विषय के सत्य होने के कारण निरधिष्ठान अध्यास संभव नहीं है।[28]

(6) लक्षण-वाक्य में **"स्मृतिरूपः"** यह पद आरोपणीय विषय के **"असंनिहितत्व"** का सूचक है।[29] अध्यास के लिए आरोपणीय विषय का असंनिहित होना आवश्यक है। असंनिधान का तात्पर्य यह है कि आरोप्य वस्तु अपने अधिकरण में परमार्थतः असत्व है, देशान्तरसत्व नहीं। अतः, इससे अद्वैत सिद्धान्त की हानि की कोई आशंका नहीं है।[30]

आरोपणीय विषय के सन्निहित होने पर प्रत्यभिज्ञा होती है तथा असंनिहित रहने पर स्मृति होती है। अतः, लक्षण प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्त न हो जाय, इस कारण "परत्रपूर्वदृष्टावभासः" के साथ "स्मृतिरूप" संयुक्त किया गया है। पाटलिपुत्र में पूर्वदृष्ट देवदत्त का माहिष्मती में अवभास समीचीन है, असमीचीन नहीं। "अवभास" शब्द का प्रयोग समीचीन प्रत्ययों के लिए भी किया जाता है, जैसे—नील का अवभास, पीत का अवभास इत्यादि। यदि अध्यास के लक्षण में "स्मृतिरूपः" यह पद न होता तो प्रत्यभिज्ञा में भी अध्यास के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती। इसके निवारण के लिए ही अध्यास के

---

24. भामती, पृ० 19, तस्य च दृष्टत्वमात्रमुपयुज्यते न वस्तुसत्तेतिदृष्टग्रहणम्।
25. भामती, पृ० 19, तथापि वर्तमानं दृष्टं दर्शनं नारोपोपयोगीति पूर्वेत्युक्तम्।
26. भामती, पृ० 19, तत्र पूर्वदृष्टं स्वरूपेण सदप्यारोपणीयतयाऽनिर्वाच्यमित्यनृतम्।
27. भामती, पृ० 19 आरोपविषयं सत्यमाह-परत्रेति।
28. पंचपादिका, पृ० 68, तदेवं न क्वचिन्निरधिष्ठानोऽध्यासः॥
29. भामती, पृ० 20, असंनिहितविषयत्वं च स्मृतिरूपत्वम्।
30. वेदान्त कल्पतरु, पृ० 19, असंनिधानं चारोप्यस्याधिष्ठाने परमार्थतोऽसत्वं, न देशान्तर सत्वमिति नापराद्धान्तः॥

लक्षण में "स्मृतिरूप:" शब्द जोड़ दिया गया है।

(7) यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि अध्यास यद्यपि "स्मृतिरूप" है, पर स्मृति नहीं है। अध्यास और स्मृति दोनों में "असंनिहितत्व" पाया जाता है, पर दोनों के बीच एक मौलिक भेद है। स्मृति में आरोप के अधिष्ठान का अभाव पाया जाता है, पर अध्यास में अधिष्ठान का भाव पाया जाता है।

(8) स्वप्न-ज्ञान भी एक प्रकार का अध्यास है। हमें यहाँ देखना है कि शंकराचार्य ने जो अध्यास का लक्षण दिया है, वह स्वप्न-ज्ञान में कहीं अव्याप्त तो नहीं होता? इसका उत्तर है कि नहीं। स्वप्न देखते समय स्मर्यमाण माता-पिता आदि पदार्थों में निद्रा-दोष के कारण उनकी असंनिधानता का भान नहीं हो पाता और पूर्वजागृत अवस्था में दृष्ट सन्निहित देशकालवृत्तित्व का समारोप होकर "इयं में माता", "अयं में पिता" ऐसी प्रतीति हो जाती है।[31]

(9) पीत-शंख, तिक्त गुड़ इत्यादि भ्रम-स्थलों में भी अध्यास का लक्षण संगत होता है। पीलिया रोग वाले व्यक्ति के नेत्रों से निकली शुभ रश्मियों के साथ पीलिया का कारणीभूत कुपित पित्त द्रव्य वैसे ही चिपक जाता है जैसे चाँदी के तारों पर सोने का रंग चढ़ा हो। उस पित्त द्रव्य को साथ चिपकाए नेत्र-रश्मियाँ बाहर निकलकर श्वेत शंख पर फैल जाती हैं। 'अति-समीप्य' दोष के कारण पित्त-द्रव्य का ग्रहण नहीं हो पाता और पीलिया रोग के कारण शंखगत शुक्ल वर्ण का भान नहीं हो पाता तथा पित्तगत पीत वर्ण और शंख के वास्तविक असम्बन्ध का ग्रहण भी नहीं होता। जिस प्रकार "पीतं स्वर्णपिण्डम्", "पीतं बिल्वफलम्" इत्यादि सत्य स्थल पर गुण और गुणी द्रव्य का असम्बन्धाग्रह होता है, उसी प्रकार "पीत: शंख:" इत्यादि भ्रम-स्थल पर पूर्वदृष्ट पीतत्व और तपवीय पिण्डत्वादि के सामानाधिकरण्य का पीतत्व और शंखत्व में आरोप करके पीलिया वाला व्यक्ति "पीत: शंख:" रूप में व्यवहार करने लगता है।

(10) **विभ्रम-स्थलों** में द्रष्टा पुरुष के सम्मुख स्थित दर्पण पर उसकी नेत्र-रश्मियाँ जाती हैं और दर्पणतल पर फैले सूर्य के प्रखर प्रकाश से टकराकर द्रष्टा के मुख की ओर मुड़ जाती हैं और मुख का ही पूर्णतया ग्रहण करती हैं। रश्मियों के मोड़-तोड़ दोष के कारण मुख की ग्रीवास्थता और अनभिमुखता का भान नहीं होता। फलत: द्रष्टा के द्वारा दर्पणादि में पूर्वदृष्ट दर्पणादि का देश और आभिमुख्य अपने मुख में आरोप करके व्यवहार किया जाता है—"अहं दर्पणे मुखं पश्यामि"। यही बात अन्य भ्रमों पर समान रूप से लागू

31. भामती, पृ० 20, स्मर्यमाणे पित्रादौ निद्रोपप्लववशादसन्निधानापरामर्शे तत्र तत्र पूर्वदृष्टस्यैव सन्निहितदेशकालत्वस्य समारोप:।

होती है ।

(11) शंकराचार्य द्वारा प्रदत्त अध्यास के लक्षण में जो "स्मृतिरूपः" शब्द दिया गया है, वह असंनिहितत्व का बोधक है । अतः, यह सभी सत्ख्यातियों, जैसे अख्याति, अन्यथाख्याति, विपरीतख्याति, सत्ख्याति इत्यादि का निराकरण कर देता है । इन सभी ख्यातियों में आरोपणीय वस्तु को सत् तथा संनिहित माना जाता है ।

(12) इसी प्रकार लक्षण-वाक्य में प्रयुक्त "परत्र" से असत्ख्यातिवाद का निवारण हो जाता है । अवभास पद भी असत्ख्यातिवाद का निवारण करता है । इस प्रकार शंकराचार्य द्वारा प्रदत्त अध्यास के लक्षण से सत् और असत् इन दोनों से भिन्न अनिर्वचनीय ख्याति का समर्थन होता है ।

ख्यातिवाद

भ्रम के विषय में जितने वाद हैं, उन्हें ख्यातिवाद कहा जाता है । "ख्याति" का शाब्दिक अर्थ है 'ज्ञान', किन्तु दार्शनिक भाषा में यह "भ्रम-ज्ञान" अर्थ में रूढ़ हो गया है । इसका कारण यह है कि जागतिक ज्ञान को लेकर जो विश्लेषण प्रारम्भ हुआ, वही अन्त में "भ्रम-ज्ञान" के विश्लेषण में परिणत हो गया । भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों ने भ्रम की व्याख्या करने के लिए विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जो निम्न हैं—

(1) असत्ख्यातिवाद (शून्यवादी बौद्ध)

(2) आत्मख्यातिवाद (विज्ञानवादी बौद्ध)

(3) अन्यथाख्यातिवाद (न्याय-वैशेषिक)

(4) विपरीतख्यातिवाद (कुमारिल भट्ट)

(5) अख्यातिवाद (प्रभाकर)

(6) सत्ख्यातिवाद (रामानुज)

(7) सदसत्ख्यातिवाद (जैन)

(8) अनिर्वचनीयख्यातिवाद (शंकर)

उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों में भ्रम के वास्तविक स्वरूप व स्थिति की चर्चा की गई है ।

भ्रम की व्याख्या

शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश्य होता है । वस्तुओं की तरह उसे प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं होती । मीमांसक कुमारिल भट्ट के लिए ज्ञान स्वप्रकाश्य नहीं

है, क्योंकि वह निराकार होता है, वह केवल अनुमेय ही होता है। इसके उत्तर में वेदान्ती कहता है कि मीमांसकों को भी कम से कम इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि वस्तुओं का ज्ञान, ज्ञान द्वारा ही सम्भव होता है। ज्ञान का अनुभव हमें उसी प्रकार होता है जिस प्रकार सुख-दु:ख का।[32] यही बात इससे भी प्रकट होती है कि ज्ञान के विषय में कभी भी हमारे भीतर जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती। यदि ज्ञेय वस्तुओं की भाँति ज्ञान भी अज्ञात होता तो उसके विषय में भी हमारे मन में जिज्ञासा अवश्य उत्पन्न होती।[33] मीमांसकों के ज्ञान-सम्बन्धी विचार में सबसे बड़ा दोष यह है कि यह अनवस्था दोष की ओर ले जाता है। यदि ज्ञान अ को समझने के लिए ज्ञान ब की आवश्यकता है तो ज्ञान ब को समझने के लिए ज्ञान स की आवश्यकता होगी और इस प्रकार इसके भीतर अनवस्था दोष अवश्य उत्पन्न हो जायगा। अत:, इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान को स्वप्रकाश्य मानना चाहिए। ज्ञान और ज्ञेय के अतिरिक्त किसी तृतीय वस्तु 'ज्ञान के ज्ञान' को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार अनवस्था दोष का निवारण भी किया जा सकता है।[34]

वेदान्त के अनुसार जिस प्रकार ज्ञान स्वप्रकाश्य होता है, उसी प्रकार वह स्वत: प्रामाणिक भी होता है। इस विषय में वेदान्तियों एवं मीमांसकों के विचारों में पूर्ण मतैक्य है। सांख्य ज्ञान के स्वत: प्रामाण्यवाद व स्वत: अप्रामाण्यवाद में विश्वास करता है। इसके विपरीत न्यायवैशेषिक के अनुसार ज्ञान न तो स्वत: प्रामाणिक होता है और न स्वत: अप्रामाणिक ही। ज्ञान की प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता प्रवृत्ति-सामर्थ्य या प्रवृत्ति-विसम्वाद के द्वारा निर्धारित की जाती है। ज्ञान की प्रामाणिकता उसकी प्रवृत्ति-सामर्थ्य से अनुमानित की जाती है।[35] ज्ञान अपनी उत्पत्ति और ज्ञाप्ति दोनों के लिए बाह्य परिस्थितियों पर आधारित होता है। मीमांसा और वेदान्त के विचार इन सभी विचारों से बिलकुल भिन्न है। वे उत्पत्ति और ज्ञाप्ति दोनों में ज्ञान के स्वत: प्रामाण्य में विश्वास करते हैं। यदि ज्ञान अ की प्रामाणिकता ज्ञान ब पर आधारित है तो ज्ञान ब की प्रामाणिकता ज्ञान स पर आधारित होगी। इस प्रकार इसमें अनवस्था-दोष की प्राप्ति अवश्य होगी।

---

32. गीता भाष्य, 18, 50, येषामपि निराकारं ज्ञानमप्रत्यक्षं तेषामपि ज्ञानवशेनैव ज्ञेयावगतिरिति ज्ञानमत्यन्तं प्रसिद्धं सुखादिवदेव इत्यभ्युपगन्तव्यम्। जिज्ञासाऽनुपपत्तेश्च, अप्रसिद्धं चेद् ज्ञानं ज्ञेयवद् जिज्ञास्येत्।
33. प्रश्न उप० 6, 2, अनवस्था दोषश्च ज्ञानस्य ज्ञेयत्वाभ्युपगमाद्—स्वात्मना चाऽविज्ञेयत्वेन अनवस्थाऽनिवार्या।
34. वही, यदा हि सर्व ज्ञेयं कस्यचित्तदा तद्वयतिरिक्तं ज्ञानं ज्ञानमेवेति द्वितीयो विभाग एवाभ्युगम्यतेऽवैनाशिकै: न तृतीयस्तद्विषय इत्यनवस्थानुपपत्ति:।
35. न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका, 1, 1, 1, प्रामाण्यं हि समर्थ प्रवृत्ति जनकत्वादनुमेयम्।

अतः, यदि कोई ज्ञान स्वतःप्रामाणिक नहीं है तो उसे कोई भी अन्य ज्ञान प्रमाणित नहीं कर सकता । इस प्रकार मीमांसा और वेदान्त दोनों ज्ञान के स्वतःप्रामाण्यवाद में विश्वास करते हैं । किसी भी नियम को तब तक वैध मानना चाहिए जब तक कि उसका कोई अपवाद सामने न आ जाय ।[36]

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि सभी ज्ञान स्वतःप्रमाणिक हैं तो भ्रम की उत्पत्ति किस प्रकार होती है । मीमांसा और वेदान्त ज्ञान के स्वतः प्रामाण्यवाद पर भ्रम के परतः अप्रामाण्यवाद में विश्वास करते हैं । ज्ञान तो स्वतः प्रामाणिक होता है, पर ज्ञान की अप्रामाणिकता दूसरे कारणों द्वारा निर्धारित की जाती है । वेदान्त के भ्रम के सिद्धान्त को अनिर्वचनीयख्यातिवाद कहते हैं । पर अनिर्वचनीयख्यातिवाद का वर्णन करने के पूर्व भ्रम के अन्य सिद्धान्तों एवं वेदान्त द्वारा उनके खण्डन का वर्णन करना समीचीन होगा ।

1. असत्ख्यातिवाद

यह शून्यवादी बौद्धों का सिद्धान्त है । इस मत के अनुसार सभी वस्तुएँ तत्त्वतः अभाव रूप ही हैं क्योंकि जो वस्तु न आदि में है और न अन्त में है, वह मध्य में कैसे रह सकती है ?[37] समस्त सांसारिक पदार्थ न अपनी उत्पत्ति से पूर्व हैं और न विनाश के पश्चात् हैं । अतः, आदि और अन्त में शून्य रूप होने के कारण मध्य में भी वह शून्य रूप ही है । वर्तमानत्व भी कुछ नहीं है क्योंकि यह भी निर्देश के पहले 'भविष्यत्' और निर्देश के पश्चात् 'अतीत' होता है । यह वर्तमान होना, भावी होना और अतीत होना भी वस्तुतः कुछ नहीं है । सब असत् या शून्य ही है ।

ज्ञान की एक शक्ति अविद्या है जो असत् वस्तु का प्रकाशन करने में समर्थ है । इस सम्बंध में बौद्ध मत का उल्लेख करते हुए वाचस्पति मिश्र ने भामती में इस प्रकार व्यक्त किया है, "विषय में प्रकाशित होने की कोई सामर्थ्य न रहने पर भी ज्ञान ही ऐसा है कि विषय अपने प्रत्यय (ज्ञान) की सामर्थ्य से ही प्राप्त स्वरूप वाला रहता हुआ असत् (शून्य) होते हुए ही प्रकाशित होता है । असत् को प्रकाशित करने की शक्ति ही अविद्या है ।"[38]

---

36. शांकर भाष्य, 2, 2, 31, न ह्यं सर्वप्रमाणसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत्तत्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुं अपवादाभाव उत्सर्गप्रसिद्धेः ।
37. मूलमाध्यमिक कारिका, 11/2
नैवाग्रं नावरं यस्य तस्य मध्यं कुतो भवेत् ।
तस्मान्नात्रोपपद्यन्ते पूर्वापर सहक्रमाः ॥
38. भामती, पृ० 22 विषयस्य समस्त सामर्थस्य विरहेऽपि ज्ञानमेव तत्तादृशं स्वप्रत्यय सामर्थ्यासादितादृष्टान्तसिद्ध स्वभावभेदमुपजातमसतः प्रकाशनं तस्मादसत् प्रकाशनशक्तिरेवाविद्येति ।

अत्यन्त असत् वस्तु को अवभासित करने वाला ज्ञान विभ्रम कहा जाता है ।

खण्डन

(1) भ्रम बन्ध्यापुत्र की तरह बिलकुल असत् नहीं है, बल्कि रज्जु-सर्प की भाँति यह हमारे ज्ञान का विषय होता है । शंकराचार्य ने स्वयं कहा है कि अभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती ।[39]

(2) यदि शून्यवादी कहते हैं कि जिस समय भ्रम की प्रतीति होती है, उस समय भी वह असत् ही है । इसके उत्तर में वेदान्ती कहते हैं कि उपर्युक्त प्रश्न भाव (Positivity) और सत्ता (Reality) के भेद को न समझने के कारण उत्पन्न हुआ है । रज्जु-सर्प तात्त्विक तो नहीं है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वह भावात्मक भी नहीं है । भावात्मक होने के कारण बन्ध्यापुत्र की भाँति वह पूर्णतया असत् नहीं है ।

(3) बौद्ध कहते हैं कि ज्ञान में असत् को प्रकाशित करने की शक्ति है । इस पर भामतीकार कहते हैं कि उस शक्ति का शक्य क्या है? अर्थात् उस शक्ति का **उपयोग-स्थल** क्या है ? यदि कहा जाय कि असत् ही उसका शक्य है तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि वह असत्---

(1) इस विज्ञान में रहने वाली शक्ति का कार्य है या

(2) विज्ञान का ज्ञाप्य है ।

(1) यदि प्रथम विकल्प को स्वीकार किया जाय तो कार्य होने के कारण वह असत् नहीं हो सकता और यदि असत् है तो इसके कारण भूत शक्ति में प्रकाशसामर्थ्य कैसी ?

(2) इसे ज्ञान द्वारा ज्ञाप्य भी नहीं माना जा सकता क्योंकि "इदं रजतं" भ्रम के अतिरिक्त कोई अन्य असद्विषयक भ्रम इस शक्ति से उत्पन्न नहीं होता । ज्ञाप्यत्व या प्रकाश्यत्व का अर्थ है उस शक्ति द्वारा जनित ज्ञान का विषयत्व । जब उस शक्ति द्वारा जन्य ज्ञान से पृथक् कोई विषय है ही नहीं तो ज्ञाप्यत्व या प्रकाश्यत्व का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है ? यदि कोई दूसरा ज्ञान हो तो उसके प्रकाश के लिए पुनः अन्य ज्ञान की अपेक्षा होने से अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी ।

2. आत्मख्यातिवाद

विज्ञानवादी बौद्ध यद्यपि जगत् के पदार्थों को असत् या शून्य रूप नहीं मानते, तथापि वे उनकी बाह्य सत्ता को भी स्वीकार नहीं करते । इनके मत में संसार के समस्त पदार्थ विज्ञानरूप हैं । क्षणिक विज्ञान-संतति के अतिरिक्त संसार में किसी वस्तु का

---

39. नाभाव उपलब्धेः ।

अस्तित्व नहीं है। इस सम्बन्ध में योगाचार विज्ञानवादियों की युक्ति यह है कि **नील** तथा **नील-ज्ञान** में सहोपलम्भ नियम है : अर्थात् नील-ज्ञान से पृथक् नील की उपलब्धि नहीं हो सकती। अत: नील-ज्ञान से स्वतन्त्र नील की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। इस कारण विज्ञानवाद में विज्ञान से पृथक् बाह्य पदार्थों की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।[40]

विज्ञानवाद के अनुसार सभी कुछ विज्ञानरूप है। आन्तरिक विज्ञान ही बाह्य वस्तुओं के रूप में अवभासित होता है।[41] विज्ञान आन्तरिक विज्ञान के रूप में ग्राहक व बाह्य विज्ञान के रूप में ग्राह्य दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त विज्ञानवाद की मान्यता है कि भ्रमकालीन रजत को असत्ख्यातिवाद की तरह असत् नहीं माना जाता। इसमें भ्रमकालीन रजत को सत् माना जाता है किन्तु इसे बाह्य रूप में सत् न मानकर विज्ञानरूप में ही सत् माना जाता है। विज्ञानवाद के अनुसार **विज्ञानाकार** (बुद्धिस्थ) **रजत को बाह्य मान लेना ही भ्रम है**। ज्ञान के द्वारा रजत के बाह्यत्व का ही बोध होता है, रजत का नहीं क्योंकि विज्ञानरूप से रजत सत् ही है। आन्तरिक रजत की बाह्य रूप में प्रतीति ही भ्रम है। अतएव भ्रम के इस सिद्धान्त को आत्मख्यातिवाद कहा जाता है। योगाचार मत में यद्यपि बाह्य सत् नहीं है, तथापि अनादि अविद्या-वासना द्वारा आरोपित अलीक बाह्य पदार्थ माना जाता है। यही भ्रम है।

खण्डन

(1) विज्ञानवादी बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार बाह्य वस्तुएँ संस्कारजन्य होती हैं। पर शंकराचार्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि अभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती।[42] विज्ञानवादी इस बात को स्वीकार करते हैं जब वे कहते हैं, "ज्ञान के आन्तरिक विषय ही बाह्य वस्तुओं की तरह प्रतीयमान होते हैं।" यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व न होता तो उपर्युक्त कथन सम्भव ही नहीं होता। कोई भी

---

40. ब्रह्मसूत्र 2, 2, 28 में उद्धृत,
सहोपलम्भनियमादभेदो नीलद्धियो: ।
भेदश्चभ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ॥
41. दिङ्नाग, आलम्बन-परीक्षा: "यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वत् अवभासते"।
42. शांकरभाष्य, 2, 2, 28 नाभाव उपलब्धे: ।

समझदार व्यक्ति यह कहता हुआ नहीं पाया जाता कि विष्णुमित्र वन्ध्यापुत्र के समान दिखाई पड़ रहा है।[43] शंकर के अनुसार विज्ञान और वस्तुओं में अभेद-सम्बंध न होकर कार्य-कारण-सम्बन्ध पाया है।

(2) यदि बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि को अस्वीकार किया जाय तो तद्जन्य वासना की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि से ही अनेक प्रकार की वासनाएँ उत्पन्न होती हैं।[44] वासनाओं को अनादि मानने पर भी अन्धपरम्परा-न्याय से व्यवहारलोपिनी अप्रतिष्ठित अनवस्था उत्पन्न होगी तथा इससे अभिप्राय की सिद्धि भी नहीं होगी।[45] अन्वय-व्यतिरेक विधि भी बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व का प्रतिपादन करती है। जब बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि होती है तब वासना की उत्पत्ति होती है तथा यदि बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि नहीं होती तो उसके प्रति वासना भी उत्पन्न नहीं होती। अत: बाह्य वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व अनिवार्य है।

(3) भ्रम के इस सिद्धान्त के विरुद्ध कहा जाता है कि इसके द्वारा भ्रम की समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि इसके आधार पर सत्य ज्ञान और मिथ्या ज्ञान के बीच भेद स्थापित नहीं किया जा सकता। विज्ञान के अतिरिक्त किसी बाह्य वस्तु की सत्ता न होने के कारण विज्ञान के सत्यत्व एवं मिथ्यात्व रूप भेदों को नहीं माना जा सकता। विज्ञान के सत्यत्व एवं मिथ्यात्व का निरूपण बाह्य वस्तु के आधार पर ही किया जाता है। दूसरी बात यह है कि यदि विज्ञानवाद को स्वीकार कर लिया जाय जो जागृत व स्वप्न का भेद ही समाप्त हो जायगा। जब सब कुछ स्वप्नवत् हो है तो सत्य क्या है, इसका निरूपण नहीं किया जा सकता। इसी बात को ध्यान में रखकर ही शंकराचार्य ने कहा है कि जागृत एवं स्वप्न की वस्तुओं में **वैधर्म्य** पाया जाता है।[46] दोनों के बीच वैधर्म्य यह है कि स्वप्न प्रत्यय बाधित होता है, पर जागृत प्रत्यय बाधित नहीं होता। स्वप्न की वस्तुएँ **व्यक्तिगत** होती हैं, पर जागृत की वस्तुएँ **सार्वजनिक** होती हैं। स्वप्न की वस्तुएँ संस्कारजन्य या **स्मृतिरूप** हैं, पर जागृत की वस्तुओं का साक्षात् **प्रत्यक्ष** किया जाता है।

(4) विज्ञानवाद ज्ञान को **स्वयंप्रकाश** मानता है। उसके स्वयं प्रकाश होने से, भ्रमात्मक ज्ञान की सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि भ्रमात्मक ज्ञान भी अन्य

---

43. शांकरभाष्य, 2, 2, 28 इतरथा हि कस्माद्बहिर्वदिति ब्रूयुः। न हि विष्णुमित्रो वन्ध्या पुत्रवदवभासत इति कश्चिदाचक्षीत।
44. ब्रह्मसूत्र 2, 2, 30, न भावोऽनुपलब्धेः।
45. वही, शांकरभाष्य, अनादित्वेऽप्यन्ध-परम्परान्यायेनाप्रतिष्ठेवानवस्था व्यवहारलोपिनी स्यान्नाभिप्रायसिद्धिः।
46. ब्रह्मसूत्र, 2, 2, 29 वैधर्म्याच्च स्वप्नादिवत्।

ज्ञान के समान स्वयं प्रकाश है तो उसे भ्रमात्मक या मिथ्या ज्ञान कैसे कहा जा सकता है ? यदि भ्रमात्मक ज्ञान को स्वयंप्रकाश न मानकर पर-प्रकाश मानें तो या तो ज्ञान के स्व-प्रकाशत्व सिद्धान्त की हानि होगी या फिर ज्ञान कभी प्रकाशित ही नहीं हो सकेगा। स्व-संवेद्यत्व और परसंवेद्यत्व दोनों के परस्पर-विरोधी होने के कारण ज्ञान में इन दोनों धर्मों की एकसाथ प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती।

(5) यदि रजत विज्ञानरूप होता तो वह इदमाकार रूप में अनुभूत न होकर **अहमाकार** रूप में अनुभूत होता। इसका कारण यह है कि विज्ञानवाद में ज्ञान तथा ज्ञाता में अभेद सम्बन्ध माना जाता है।

(6) भ्रम केवल संस्कार रूप ही नहीं होता, वरन् बाह्य संसार में उसका एक अस्तित्व होता है। यदि भ्रम सुख-दुःख के समान मानसिक ही होता तो उसके निराकरण के लिए किसी बाह्य वस्तु के प्रत्यक्ष की आवश्यकता न होती। रज्जु-सर्प के निराकरण के लिए प्रत्यक्ष की आवश्यकता होती है।

3. अख्यातिवाद

शंकराचार्य ने अख्यातिवाद को इस प्रकार परिभाषित करने की चेष्टा की है : "शुक्त्यादि में जो रजतादि का अध्यास कहा जाता है, वह वस्तुतः शुक्ति और रजत का **भेद-ग्रह** न होने के कारण उत्पन्न होता है जिसके कारण "**इदं रजतम्**" ज्ञान में भ्रमरूपता का व्यवहार होने लग जाता है।"[47] अर्थात् भ्रम का वास्तविक कारण दो ज्ञान व उनके विषयों में विवेक या भेद-ज्ञान न होने के कारण उत्पन्न होता है। अख्यातिवाद का खण्डन करने के पूर्व उसकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करना श्रेयस्कर होगा।

(1) प्राभाकर मीमांसा विशुद्ध रूप में भ्रम के तार्किक स्वरूप को स्वीकार नहीं करता क्योंकि वस्तुवादी होने के कारण उसके अनुसार सभी ज्ञान **यथार्थ** ही होते हैं। ज्ञान का वास्तविक कार्य वस्तु के स्वरूप का प्रकाशन करना है, न कि उसे विकृत करना। अतः, संसार में भ्रम नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती। वास्तव में भ्रम कोई मौलिक ज्ञान न होकर, **दो ज्ञानों का मिश्रण** होता है जिसमें एक **प्रत्यक्ष ज्ञान** होता है और दूसरा **स्मृति ज्ञान**। उदाहरण के लिए : शुक्ति में रजत का ज्ञान जिसे हम भ्रमात्मक ज्ञान कहते हैं, एक ज्ञान नहीं है, अपितु दो ज्ञानों का सम्मिश्रण है, "**इदं रजतम्**" में जो "**इदं**" है, वह गुणरहित शुक्ति के केवल द्रव्य मात्र का ज्ञान है जो प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है। इसके विपरीत "इदं रजतम्" में जो "रजतम्" है, वह रजत के द्रव्यरहित गुण मात्र का ज्ञान है जो स्मृत्यात्मक

47. अध्यास-भाष्य, यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रमः।

ज्ञान है। "रजतम्" का ज्ञान प्रत्यक्षात्मक नहीं हो सकता क्योंकि हमारे समक्ष रजत की सत्ता का अभाव प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकता। इदमंश के प्रत्यक्ष से अन्यत्र देखे गए रजत का "चिकचाक्य" की समानता के कारण स्मरण हो जाता है। प्रभाकर इसे **प्रमृष्टतत्ताकस्मरण** कहते हैं। इदं तथा रजतम् दोनों ही अपने-अपने स्थान पर सत्य हैं। इदमंश उपस्थित होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय है तथा रजतांश अनुपस्थित होने के कारण स्मृति का विषय है। पर **स्मृतिप्रमोष** (स्मृतिलोप) के कारण इन दोनों प्रत्यक्षात्मक एवं स्मृत्यात्मक ज्ञान एवं उनके विषयों में विवेक का ग्रहण न होने के कारण भ्रम की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार प्राभाकर मीमांसकों के मत में प्रत्यक्ष-ज्ञान तथा स्मृति-ज्ञान एवं उनके विषयों के बीच विवेक न होने के कारण ही "इदं रजतम्" भ्रम की उत्पत्ति होती है।[48] अत: प्रत्यक्ष और स्मृति में विवेक की अख्याति को ही "अख्यातिवाद" में भ्रम का कारण माना गया है।

खण्डन

(1) अख्यातिवाद के प्रतिकूल वेदान्तियों का प्रथम आक्षेप यह है कि प्राभाकर मीमांसा ज्ञान के "त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद" में विश्वास करती है जिसके अनुसार प्रत्येक ज्ञान **स्वयंप्रकाश** होता है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष और स्मृति तथा उनके विषयों के भेद का अज्ञान असम्भव हो जाता है। जब विवेकाग्रह असम्भव है तो अख्यातिवाद भी असम्भव है।

(2) प्रभाकर न तो "अभाव" के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और न "अनुपलब्धि" प्रमाण को ही। "भूतले घटाभाव:" का अर्थ भूतल का प्रत्यक्ष ही है। भ्रम में जब प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों तत्व उपस्थित हैं तो उनके बीच भेद का भी ज्ञान हमें अवश्य होना चाहिए। अब प्रभाकर मतावलम्बी मीमांसक यह नहीं कह सकते कि प्रत्यक्ष और स्मृति के भेदाग्रह के कारण भ्रम की उत्पत्ति होती है। अत:, चित्सुखाचार्य के अनुसार उनके दर्शन में **आश्रयासिद्ध दोष** पाया जाता है।

(3) प्राभाकर मीमांसकों का यह कहना भी ठीक नहीं है कि भ्रमात्मक ज्ञान ऐकिक ज्ञान न होकर दो ज्ञानों, प्रत्यक्ष और स्मृति का सम्मिश्रण होता है। "इदं रजतम्" इस वाक्य से एकाकार ज्ञान का बोध होता है, दो भिन्न-भिन्न ज्ञानों का नहीं। जब भ्रम में हमें शुक्ति के स्थान पर "रजत" का अनुभव होता है तो इस बात का कहीं भी संकेत नहीं मिलता कि

48. प्रकरणपंजिका, पृ० 43 ज्ञानयो: विषयोश्च विवेकाग्रहात् भ्रम:।

रजत कभी हमारे पूर्व अनुभव का विषय रहा है। भूतकाल की ओर संकेत किए बिना ही यह कहना कि भ्रम में स्मृति का अंश होता है, ठीक नहीं है क्योंकि यह संकेत ही स्मृति को प्रत्यक्ष से पृथक् करता है।[49] "इदं रजतम्" में "इदम्" और "रजतम्" दोनों ही प्रत्यक्ष के विषय होते हैं।

(4) उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भ्रम में सब कुछ प्रत्यक्ष का ही अंश होता है। इसमें स्मृति का कुछ भी अंश नहीं होता। जब किसी व्यक्ति को शुक्ति के स्थान पर रजत का भ्रम होता है तो वह दो प्रकार की प्रक्रियाएँ न कर केवल एक ही प्रकार की प्रक्रिया करने के लिए उद्यत होता है। यह इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि भ्रम दो ज्ञानों का सम्मिश्रण न होकर ऐकिक ज्ञान ही होता है।[50] पंचपाद इस बात को स्वीकार करते हैं कि भ्रम की उत्पत्ति में दो विभिन्न ज्ञानों की कारणता शामिल होती है, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जो प्रत्यक्ष को उत्पन्न करता है तथा पूर्वज्ञान का संस्कार जो स्मृति का कारण होता है। पर इससे किसी ऐकिक ज्ञान की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं पहुँचती। यह सभी जानते हैं कि लिंग-ज्ञान और व्याप्तिज्ञान के संकलित प्रभाव के कारण हमारे मन में लिंगी का ज्ञान उत्पन्न होता है।[51]

(5) अख्यातिवाद के अनुसार दो विभिन्न ज्ञानों के विवेक के अभाव के कारण हम किसी कार्य को करने के लिए प्रेरित हो सकते हैं। इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि प्रत्यक्ष और स्मृति के भेद के अज्ञान के कारण कोई भी चेतन व्यक्ति क्रियाशील नहीं होता। जब कोई व्यक्ति किसी कार्य को करने के लिए उद्यत होता है तो वह किसी भावात्मक ज्ञान का ही परिणाम होता है।[52] इच्छा के बिना कोई कार्य सम्भव नहीं होता और इच्छा सदा किसी निश्चित वस्तु के प्रति ही उत्पन्न होती है। रजत के इच्छुक के मन में जब तक इस बात का विश्वास न हो जाय कि उसके समक्ष द्रव्य के रूप में रजत स्थित है, तब तक उसके मन में रजत को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न नहीं हो सकती।

(6) "इदं रजतम्" यह दो भिन्न ज्ञानों का समुच्चय नहीं, वरन् एकाकार ज्ञान का ही प्रतिनिधित्व करता है। यदि "इदं रजतम्" एकाकार ज्ञान न होता तो "यह रजत है" ऐसा

---

49. पंचपादिकाभाष्य, पृ० 194, स्मृतेः प्रमोषो न सम्भवति_तथा च तन्त्रान्तरीया आहुः अनुभूतविषयाऽसंप्रमोषा स्मृति इति।
50. वही, पृ० 196 सा चैकमेव ज्ञानं एकफलं जनयति।
51. वही, पृ० 200, भिन्न जातीयहेतुसामग्रयोः कथमेकं ज्ञानोत्पादनमितिचेत्, नैष दोषः, दृश्यते हि लिंगज्ञानसंस्कारयोः सम्भूय लिंगिज्ञानोत्पादनम्॥
52. भामती, 1, 1, 1 चेतन व्यवहारस्य अज्ञान पूर्वकत्वानुपपत्तेः।

कहने के स्थान पर "मैं इसे देख रहा हूँ और रजत का स्मरण कर रहा हूँ" ऐसा कहा जाता। अतः, इससे स्पष्ट है कि जो प्रत्यक्ष का विषय है, उसी में रजतत्व का भान होता है। अतः, इदमाकार प्रत्यक्ष ज्ञान तथा तत्ताकार स्मृति ज्ञान में केवल विवेकाग्रह ही नहीं है, अपितु इन दोनों में भावात्मक तादात्म्यीकरण भी है। इस भावात्मक तादात्म्यीकरण को माने बिना रज्जु में सर्प-भ्रम से होने वाले भय, पलायन आदि व्यापारों की समुचित व्याख्या सम्भव नहीं है। अतः, प्रत्यक्षात्मक भ्रम की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

(7) स्वामी विद्यारण्य के अनुसार भी "इदं रजतम्" इत्याकारक ज्ञान में रजत पुरोऽवस्थित रूप में प्रतीत होता है, न कि स्मर्यमाण रूप में।[53] यह कहना ठीक नहीं है कि पुरोऽवस्थितत्व की प्रतीति इदमंश में है, रजतांश में नहीं क्योंकि जैसे व्यावहारिक रजतस्थल में होने वाले "इदं रजतम्" इस ज्ञान में सामान्य और विशेष दोनों अंश एक-दूसरे से संसृष्ट रूप में उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार भ्रमात्मक रजत-ज्ञान में भी ये संसृष्ट रूप में ही उपलब्ध होते हैं। यहाँ यह कथन भी ठीक नहीं है कि "इदम्" और "रजतम्" इन दोनों सामान्यविशेष अंशों के नैरन्तर्य के कारण ही ऐसी प्रतीति होती है, दोनों के संसर्गग्रह के कारण नहीं, क्योंकि भ्रम-स्थल में परमार्थ-स्थल से कुछ भी न्यूनता नहीं है। अतः, जैसे परमार्थ स्थल में सामान्य और विशेष अंशों का परस्पर संसर्गग्रह होता है, उसी प्रकार भ्रमात्मक रजत-ज्ञान में भी संसर्गग्रह को स्वीकार करना उचित है। यहाँ यह भी शंका करना समीचीन नहीं है कि भ्रम-स्थल में पुरोवर्ती रजत का अभाव होने से संसर्गग्रह कैसे सम्भव है, क्योंकि अद्वैत वेदान्त में भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति मानी जाती है तथा इस अनिर्वचनीय रजत के साथ ही संसर्गग्रह को स्वीकार किया जाता है।

4. अन्यथाख्यातिवाद और विपरीतख्यातिवाद

भ्रम की व्याख्या करने के लिए न्याय-वैशेषिक अन्यथाख्यातिवाद में व भाट्ट मीमांसक विपरीतख्यातिवाद में विश्वास करते हैं। दोनों के बीच बहुत-सी बातों में विभिन्नताएँ होते हुए भी कुछ बातों में समानताएँ भी पाई जाती हैं जिनका उल्लेख करना आवश्यक है—

(1) दोनों भ्रम की वस्तुवादी व्याख्या करने की चेष्टा करते हैं जिसके अनुसार ज्ञान का एक निश्चित विषय होता है।

(2) अन्यथाख्यातिवाद और विपरीतख्यातिवाद दोनों भ्रम को दो ज्ञानों का

---

53. विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० 92 पुरोऽवस्थितत्वेनावभासमानत्वात्।

सम्मिश्रण न मानकर **ऐकिक ज्ञान** के रूप में ही स्वीकार करते हैं। यह ठीक है कि भ्रम में एक प्रत्यक्ष का अंश तथा दूसरा स्मृति का अंश विद्यमान होता है, पर ये दोनों अंश पृथक् रूप में विद्यमान न रहकर **संश्लिष्ट** रूप में ही विद्यमान रहते हैं।

(3) दोनों के अनुसार भ्रम केवल विवेकाग्रह या भेदाग्रह के कारण ही उत्पन्न नहीं होता, वरन् **विपरीत-ग्रह** के कारण उत्पन्न होता है। भ्रम केवल निषेधात्मक ही नहीं है, बल्कि इसके भीतर भावात्मक तत्त्व भी पाया जाता है। इसी बात को ध्यान में रखकर ही शंकराचार्य ने अन्यथाख्यातिवाद को इस प्रकार परिभाषित किया है, "जिस शुक्त्यादि में रजतादि का अध्यास लोकप्रसिद्ध है, वह शुक्त्यादि में विपरीत रजतत्व धर्म की कल्पना है।"[54]

अब हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि अन्यथाख्यातिवाद व विपरीतख्यातिवाद में इतनी समानताएँ हैं तो दोनों भ्रम के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त क्यों माने जाते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि दोनों के बीच निम्न दो बातों में भेद पाया जाता है—

(i) अन्यथाख्यातिवाद के अनुसार भ्रम के प्रत्यक्ष-तत्त्व का **अन्यथा-ज्ञान** होता है और रजत-तत्त्व का **अन्यस्थान** (आपणस्थ) पर ज्ञान होता है। शुक्ति और रजत का पृथक्-पृथक् ज्ञान वास्तविक है, केवल दोनों का संयोग ही अवास्तविक है। इसके विपरीत, विपरीतख्यातिवाद में प्रत्यक्ष-तत्त्व की स्मृतिरूप में विपरीत कल्पना की जाती है।

(ii) दोनों के बीच दूसरा अन्तर यह है कि अन्यथाख्यातिवादी अपनी वस्तुवादिता के कारण रजत-ज्ञान को स्मृत्यात्मक न मानकर असाधारण प्रत्यक्ष का ही विषय मानते हैं जिसे हम **ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष** के द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं। पर विपरीतख्यातिवादी भ्रम में स्मृति नामक **आत्मनिष्ठ तत्त्व** को स्वीकार कर अपने वस्तुवाद का परित्याग कर देते हैं।

अब हम अन्यथाख्यातिवाद व विपरीतख्यातिवाद का खण्डन प्रस्तुत करेंगे—

(1) अन्यथाख्यातिवाद भ्रम के **वर्तमानत्व** व **एतद्देशविशिष्टत्व** की अवहेलना करता है। जब हमें शुक्ति का रजत के रूप में भ्रम होता है तो रजत हमारे समक्ष उपस्थित रहता है, वह अन्य देश (आपण) और अन्य काल में कहीं स्थित नहीं रहता, जैसा कि अन्यथाख्यातिवादी कहते हैं। विपरीतख्यातिवादियों का भी यह कथन ठीक नहीं है कि रजत के भ्रम में स्मृति होती है। वास्तव में रजत का न तो असाधारण प्रत्यक्ष होता है और न उसकी स्मृति ही होती है। वह स्पष्ट रूप में हमारे समक्ष ही प्रत्यक्ष रूप में स्थित

---

54. अध्यासभाष्य, अन्ये तु यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीत धर्मकल्पनामाचक्षते।

होता है ।[55]

(2) भ्रम का निवारण होने पर जब हम कहते हैं कि **"नेदं रजतम्"** अर्थात् "यह रजत नहीं है" यह बाधक ज्ञान केवल एक देश और विशेष काल (वर्तमान) के रजत-ज्ञान को ही बाधित करता है; वह किसी अन्य देश और अन्य काल के रजत-ज्ञान को बाधित नहीं करता, क्योंकि प्रत्यक्ष में रजत के अन्य देश और अन्य काल के सम्बन्ध में हमें कहीं बोध नहीं होता ।[56] भ्रम का निराकरण होने पर हमें केवल यही बोध होता है कि "यह रजत नहीं है", हमें यह कदापि बोध नहीं होता कि "रजत अन्य देश और अन्य काल में स्थित है ।"[57]

(3) जब शब्द-ज्ञान द्वारा किसी व्यक्ति के भ्रम का निवारण होता है तो यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि भ्रम में किसी अन्य देश और अन्य काल की वस्तु का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता । मान लिया कि एक व्यक्ति है जो भ्रमवश रस्सी को सर्प के रूप में देख रहा है । एक अन्य व्यक्ति जो उस वस्तु के समीप खड़ा है, प्रथम व्यक्ति के भ्रम का निवारण करने के लिए कहता है, **"यह सर्प नहीं है"** इस शाब्दिक ज्ञान के द्वारा प्रथम व्यक्ति को उस स्थान पर सर्प के अभाव का ही ज्ञान होता है, उसे यह कदापि ज्ञान नहीं होता कि सर्प का अस्तित्व किसी अन्य देश या काल में है ।[58]

(4) यदि नैयायिकों के ज्ञान-लक्षण प्रत्यक्ष को स्वीकार कर लिया जाय तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुमान की प्रक्रिया असम्भव हो जायगी । ज्यों ही हमें किसी पक्ष में हेतु का प्रत्यक्ष होगा, हम ज्ञानलक्षणा प्रत्यक्ष द्वारा साध्य का प्रत्यक्ष कर लेंगे । फिर अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी ।

अनिर्वचनीयख्यातिवाद

अब तक हमने भ्रम के दो प्रकार के सिद्धान्तों का वर्णन किया : प्रथम वस्तुवादी सिद्धान्त एवं द्वितीय विज्ञानवादी सिद्धान्त । वस्तुवादी सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान का कार्य वस्तु का प्रकाशन करना है, उसे विकृत करना नहीं । इसके विपरीत, विज्ञानवादी सिद्धान्त के अनुसार, बाह्य वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है, आन्तरिक विज्ञान ही बाह्य वस्तुओं के रूप में प्रक्षेपित होते हैं । यद्यपि वस्तुवादी सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान का कार्य वस्तु का प्रकाशन करना है, उसे विकृत करना नहीं, पर फिर भी भारतीय दर्शन की वस्तुवादी

55. विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० 92, पुरोऽवस्थितत्वेनावभासमानत्वात् ।
56. पंचपादिकाभाष्य, पृ० 245, नेदं रजतमिति विशिष्ट देश-काल-सम्बन्धं रजतं विलोपयदेवोदेति, न देशान्तर सम्बन्धमापादयति, तथावगमात् ।
57. विवरणभाष्य, पृ० 245, नेदं रजतम्, किन्तु देशकालान्तरे बुद्धौ वेत्यनवगमादिति भावः ।
58. विवरणभाष्य, पृ० 245, दूरवर्तिनी रज्जुं सर्पमन्यमानः तन्निकटवर्तिनाऽप्तेन 'नायं सर्पः' इत्युक्ते सर्पाभावमात्रं प्रतिपद्यते, न तस्य देशान्तरवर्तित्वं, तत्प्रतिपत्तावसामर्थ्याद् वाक्यस्य ॥

विचारधारा में दो सम्प्रदाय पाए जाते हैं जिनमें प्रथम सम्प्रदाय के अनुसार भ्रम दो विभिन्न ज्ञानों और उनके विषयों के बीच अख्याति, अविवेक, या भेदाग्रह के कारण उत्पन्न होता है। कोई ज्ञान अपूर्ण भले ही हो, पर वह अयथार्थ कभी नहीं हो सकता। प्रभाकर का अख्यातिवाद, सांख्य का सत्ख्यातिवाद तथा रामानुज का यथार्थ ख्यातिवाद प्रथम सम्प्रदाय के भीतर लिए जा सकते हैं। वस्तुवादी सिद्धान्त का दूसरा सम्प्रदाय यह विश्वास करता है कि ज्ञान या भ्रम में सब कुछ यथार्थ या वस्तुनिष्ठ ही नहीं होता, उसके भीतर कुछ आत्मनिष्ठ तत्त्व भी पाया जाता है। ज्ञान सदा वस्तु को प्रकाशित ही नहीं करता, कभी-कभी उसे विकृत भी कर देता है। पर यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि द्वितीय सम्प्रदाय जहाँ तक ज्ञान में आत्मनिष्ठ तत्व को स्वीकार करता है, वह विशुद्ध वस्तुवादी न होकर कुछ न कुछ अंश में विज्ञानवादी अवश्य हो जाता है। न्याय का अन्यथाख्यातिवाद, कुमारिल का विपरीतख्यातिवाद तथा जैनियों का सद्सतख्यातिवाद, इसी द्वितीय सम्प्रदाय के भीतर लिए जा सकते हैं।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि वस्तुवादी विचारधारा के दोनों सिद्धान्त भ्रम की उपयुक्त व्याख्या करने में सदा असमर्थ रहते हैं। सर्वप्रथम हम प्रथम सिद्धान्त का खण्डन प्रस्तुत करेंगे—

(1) भ्रम प्रत्यक्ष और स्मृति इन दो ज्ञानों और उनके विषयों के बीच केवल अख्याति या भेदाग्रह ही नहीं है, उसमें एक **आत्मनिष्ठ तत्त्व** भी पाया जाता है जो पश्चाद् ज्ञान द्वारा निराकृत हो जाता है।

(2) भ्रम में रजत का **प्रत्यक्ष** होता है, उसकी केवल स्मृति नहीं होती। भ्रम-विषय का **वर्तमानत्व** व **एतद्देश-विशिष्टत्व** यह सिद्ध करता है कि भ्रम स्मृति नहीं है।

(3) यदि भ्रम दो ज्ञानों और उनके विषयों के बीच भेदाग्रह का परिणाम है तो हमारे समक्ष प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उक्त दोनों ज्ञान हमारी चेतना में प्रतीयमान होते हैं कि नहीं? यदि दोनों ज्ञान हमारी चेतना में प्रतीयमान होते हैं तो उनका अन्तर भी चेतना का विषय अवश्य होगा और यदि वे दोनों ज्ञान हमारी चेतना में प्रतीयमान नहीं होते तो वे अवास्तविक हैं।

(4) प्रभाकर को अख्यातिवाद में विश्वास करने का कोई अधिकार नहीं है क्योंकि वे "अभाव" को पदार्थ नहीं मानते।

भ्रम का दूसरा वस्तुवादी सिद्धान्त जो अख्यातिवाद के स्थान पर विपरीतख्यातिवाद में विश्वास करता है, वह भी भ्रम की समुचित व्याख्या करने में असमर्थ रहता है।

(1) यदि ज्ञान अपने विषय को विकृत कर सकता है तो कुमारिल का वस्तुवाद नष्ट हो जाता है।

(2) भ्रम में रजत का न प्रत्यक्ष हो सकता है और न स्मृति ही। भ्रम में रजत का प्रत्यक्ष इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि रजत का हमारे समक्ष अस्तित्व ही नहीं है। रजत स्मृति रूप भी नहीं है क्योंकि उसके भीतर वर्तमानत्व व एतद्देश-विशिष्टत्व दोनों पाये जाते हैं।

(3) अब वस्तुवादी के समक्ष एक बहुत बड़ा उभयतोपाश उपस्थित होता है जिसका समाधान करना उसके लिए असम्भव कार्य है—

यदि रजत वास्तविक है तो बाद के अनुभव द्वारा उसका निराकरण कैसे हो जाता है? तथा यदि रजत अवास्तविक है तो वह हमारी चेतना का विषय कैसे बन सकता है ? वस्तुवाद के समक्ष इस समस्या का कोई समाधान नहीं है।

योगाचार विज्ञानवाद का आत्मख्यातिवाद व माध्यमिकों का असत्ख्यातिवाद भी इस समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं करता। आत्मख्यातिवाद के अनुसार विज्ञानाकार रजत ही बाह्य जगत् के रूप में दिखाई देना भ्रम है। पर यह ठीक नहीं है। बिना निमित्त के मिथ्याविकल्प की सिद्धि ही नहीं हो सकती।[59] भ्रम के लिए भी एक अधिष्ठान की आवश्यकता होती है। आधुनिक मनोविज्ञान भी इसे स्वीकार करता है। यदि आन्तरिक विज्ञान ही बाह्य वस्तुओं के रूप में दिखाई पड़ते हैं तो वे "इदमाकार" न होकर आन्तरिक "अहमाकार" रूप में ही दिखाई पड़ते। पर ऐसा कहीं नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार माध्यमिकों का असत्ख्यातिवाद भी संगत सिद्धान्त नहीं है। वे भ्रम को वन्ध्या-पुत्र की भाँति असत् मानते हैं। पर यह ठीक नहीं है क्योंकि वन्ध्या-पुत्र का हमें कभी भी भ्रम नहीं होता। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य ने ठीक ही कहा है कि हमें अभाव की कभी भी उपलब्धि नहीं हो सकती।

शंकराचार्य ने वस्तुवादियों एवं विज्ञानवादियों से पृथक् अपने भ्रम-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसे अनिर्वचनीयख्यातिवाद कहते हैं। इसके अनुसार अविद्या के कारण भ्रम-स्थल में एक **अनिर्वचनीय वस्तु** की उत्पत्ति होती है तथा उसी अनिर्वचनीय वस्तु की ख्याति भी होती है।

(1) इस वस्तु को हम सत् नहीं मान सकते क्योंकि अधिष्ठान ज्ञान से इसका बाध हो सकता है। अस्तित्व मात्र से सत् होना उपपन्न नहीं है।[60]

(2) इसे पूर्णतया असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शशविषाण के समान

---

59. मिथ्याविकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः।
60. भामती, न सत्तासामान्ययोगित्वम् प्रकाशमानतामात्रं वा सत्वम्॥

पूर्णतया असत् होने पर उसकी प्रतीति भी नहीं हो सकती।[61] जो वस्तु हमारे ज्ञान का विषय बन सकती है, वह पूर्णतया असत् कैसे हो सकती है ? वेदान्त के अनुसार भ्रम का भी संसार में कुछ न कुछ अस्तित्व अवश्य होता है। जो असत् है, उसका अनुभव करना बिलकुल असम्भव है।[62]

(3) भ्रम के विषय को **सदसत्** भी नहीं कह सकते, क्योंकि परस्पर-विरोधी होने के कारण सदसत् की कल्पना ही वदतोव्याघात है।

(4) अत:, हमारे समक्ष केवल चौथा विकल्प ही शेष रहता है जिसके अनुसार भ्रम का विषय न सत् है और न असत् ही है, वरन् **सदसत्-विलक्षण** है। सदसत्-विलक्षण होने के कारण ही इसे अनिर्वचनीय कहा जाता है। यह भ्रम-स्थल में उत्पन्न अनिर्वचनीय वस्तु अज्ञानजन्य अस्थायी सृष्टि है। इस अनिर्वचनीय एवं प्रातिभासिक वस्तु की सृष्टि को माने बिना इसके वर्तमानत्व एवं एतद्देश-विशिष्टत्व वाले प्रतिभास की व्याख्या सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में भामतीकार वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि भ्रम में प्रतीत होने वाली वस्तु को न सत् कहा जा सकता है, न असत् और न सदसत्, अत: मृगमरीचिका में अनिर्वाच्य जल को ही मानना युक्त है।[63]

विवरणकार प्रकाशमयति ने भी अनिर्वचनीयख्यातिवाद का पूर्णतया समर्थन किया है। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि शुक्ति-रजत भ्रम में प्रतीत होने वाला रजत मिथ्या एवं अनिर्वचनीय है तथा यह **अविद्योपादानक** है।[64] भ्रम के दूर हो जाने पर हमें ज्ञान हो जाता है कि यह रजत नहीं है, अब तक मिथ्या रजत ही अवभासित हो रहा था। इससे सिद्ध होता है कि इस प्रातिभासिक रजत का उपादान कारण अविद्या ही है। इसीलिए इसे मायामय कहा जाता है। यहाँ भी अनिर्वचनीयख्यातिवाद का समर्थन किया गया है।

अर्थापत्ति द्वारा अनिर्वचनीय वस्तु का समर्थन

आनन्दबोध ने न्यायमकरन्द में अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा अनिर्वचनीय पदार्थ की सिद्धि की है। अत्यन्त असत् शशशृंग आदि वस्तुओं की तो कभी प्रतीति नहीं होती तथा सत्

---

61. तैत्ति० उप०, 2, 6, यन्नास्ति तन्नोपलभ्यते यथा शशविषाणादि।
62. वही, 2, 6, 6, नासतो जातं किंचिद् गृह्यते लोके कायम्॥
63. भामती, पृ० 23, तस्मान्न सत्, नाप्यसत्, नापि सदसत् परस्परविरोधादित्य-निर्वाच्यमेवारोपणीयं मरीचिषु तोयमास्थेयम्।
64. पंचपादिकाविवरण, पृ० 167-169 सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तु संभेदोऽभासमानः माया मिथ्या अनिर्वचनीयख्यातिः अध्यास एवायं इत्यर्थः॥

वस्तु का कभी बाध नहीं होता। यहाँ भ्रम-स्थल पर दिखाई देने वाली वस्तु प्रतीति का भी विषय होती है और साथ ही बाध का भी। साधारणतः इन दोनों प्रतीति और बाध का एकसाथ मिलना अनुपपन्न है। अतः, असाधारण रूप में संसार में किसी ऐसी वस्तु का अस्तित्व अवश्य होना चाहिए जो सत् और असत् दोनों से ही विलक्षण हो। उसी उभयविलक्षण वस्तु को अनिर्वचनीय वस्तु कहते हैं जिसकी कल्पना करना भ्रम की व्याख्या के लिए नितान्त आवश्यक है।[65]

आनन्दबोध द्वारा वर्णित अनिर्वाच्यता के अर्थ को और स्पष्ट करते हुए चित्सुखाचार्य ने कहा है—"प्रत्येक तथा सदसत् उभय रूप विचार की कक्षा में नहीं आता, उसे ही वेदान्तवेत्ता अनिर्वाच्य कहा करते हैं।"[66] यहाँ पर एक नवीन आपत्ति की आशंका उठाई जा सकती है। परस्पर-विरुद्ध सत्व व असत्व के निषेधों का भी समुच्चय नहीं हो सकता क्योंकि दोनों में से किसी एक का निषेध करने पर दूसरे का विधान अनिवार्य हो जाता है। यह आपत्ति वेदान्त में स्वीकार्य नहीं है क्योंकि वेदान्ती सत्व और असत्व को परस्पर-व्याघाती न मानकर परस्पर-विपरीत ही मानते हैं। इसीलिए दो निषेधों का समुच्चय भी तात्त्विक नहीं है। सत्व आदि प्रतियोगी वचनों से उस रजत आदि की दुर्निरूपता व्यक्त करने के लिए ही सदसद् विलक्षणता कही जाती है। जो रजत आदि पक्ष स्वरूपतः अनिरूप्य है, उसमें कोई तात्त्विक धर्म कैसे रह सकता है? जहाँ विरोधी धर्मों में एक का निषेध हो, वहाँ दूसरे का विधान अवश्य हो, ऐसा कोई नियम नहीं है।[67]

10. भ्रम की विशेष व्याख्या

शंकराचार्य के अनुसार जो ज्ञान स्मृति के समान संस्कारजन्य होने से स्मृतिरूप असमीपवर्ती विषयक हो, इसी से जो अन्य वस्तु शुक्ति आदि में रजतादि का अवभास हो, उसे अध्यास या भ्रम कहते हैं।[68] दूसरे शब्दों में, किसी वस्तु में किसी दूसरी वस्तु के गुणों

---

65. न्यायमकरन्द, पृ० 116, अस्त्येव खल्वर्थापत्तिः, तथाहि नात्यन्तासतो नरविषाणस्य प्रतिभासगोचरता, नाप्यत्यन्तसतश्चिदात्मनो बाधसम्भवः, तदिहोभयान्यानुपपत्या उभयविलक्षणता रजतादेराश्रीयत इति ॥
66. तत्त्वप्रदीपिका, 1/13
प्रत्येकं सदसत्वाभ्यां विचारपदवीं न यत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः ॥
67. वही, पृ० 137 न हि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किंचिदपि रूपं वास्तवं सम्भवतिः तथा सति तस्यापि तात्त्विकत्वप्रसंगात्। न चैकतरनिषेधोऽन्यतरविधिनान्तरीयकः, अनिर्वचनीयवादिनं प्रति व्याप्त्यसिद्धेः।
68. शांकरभाष्य, उपोद्घात, स्मृतिरूपः परत्र पूर्व दृष्टावभासः।

की प्रतीति होना अध्यास कहा जाता है।[69] भारतीय दर्शन में वर्णित भ्रम के किसी मत को लिया जाय, उनके बीच कम से कम एक बात में समानता अवश्य पाई जाती है—प्रत्येक मत में अन्य वस्तु में अन्य धर्म की मिथ्या प्रतीतिरूपता पाई जाती है।[70] इसी प्रकार एक अन्य वेदान्ती धर्मराजाध्वरीन्ध कहते हैं कि जब विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का एक ही वाक्य में तादात्म्य स्थापित किया जाता है तो भ्रम की प्राप्ति होती है।[71] उदाहरण के लिए, जब हम कहते हैं कि 'यह रजत है'। इस वाक्य में 'यह' (शुक्ति) व्यावहारिक दृष्टि से सत्य वस्तु है, पर रजत जिसका शुक्ति के ऊपर आरोपण किया जाता है, केवल एक मिथ्या वस्तु ही है। इस सत्य और मिथ्या वस्तु के तादात्म्य को ही अध्यास कहते हैं। यद्यपि यहाँ सत्य और मिथ्या दोनों प्रकार की वस्तुएँ वस्तुनिष्ठ (Objective) हैं, पर जिस वस्तु का अध्यास किया जाता है, वह विषय, जिस वस्तु पर अध्यास किया जाता है, उस आश्रय से कम सत्य होती है। हमारे मन में यह भ्रम तब तक बना रहता है जब तक कि हमें आश्रय या अधिष्ठान का पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त हो जाता। हमें रजत के मिथ्यात्व का बोध तभी हो सकता है जब कि हमें शुक्ति का सम्यक् बोध हो जाय। प्रथमदृष्ट्या जब हमें रजत का प्रत्यक्ष होता है तो वह उस समय प्रामाणिक ही होता है (स्वत: प्रामाण्यवाद), पर ज्यों ही हमें शुक्ति का सम्यक् ज्ञान होता है, रजत का ज्ञान अप्रामाणिक हो जाता है (परत: अप्रामाण्यवाद)। मीमांसा की तरह अद्वैतवाद स्वत: प्रामाण्यवाद व परत: अप्रामाण्यवाद में विश्वास करता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मिथ्या ज्ञान में जो हम शुक्ति एवं रजत के बीच तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उनके बीच वास्तविक सम्बन्ध क्या है?

(i) शुक्ति एवं रजत के बीच अभेद-सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, क्योंकि दो भिन्न स्तर या कोटि की वस्तुओं के बीच अभेद-सम्बन्ध होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

(ii) इसी प्रकार शुक्ति एवं रजत के बीच भेद-सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि यदि उनके बीच भेद-सम्बन्ध होता तो वे दोनों उद्देश्य और विधेय रूप में एक ही वाक्य के अवयव न होते।

(iii) इसी प्रकार शुक्ति और रजत के बीच भेदाभेद-सम्बन्ध भी नहीं बन सकता, क्योंकि भेदाभेद-सम्बन्ध एक व्याघातक कल्पना है।

(iv) 'यह रजत है' इस वाक्य में शुक्ति एवं रजत के बीच जो सम्बन्ध है, वह एक

---

69. अध्यासो नाम अतस्मिन तद्बुद्धिः।
70. उपोद्घात, सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति।
71. धर्मराजाध्वरीन्ध, वेदान्त परिभाषा, सत्यमिथ्या-वस्तु तादात्म्य अवगाहित्वेन भ्रमत्व स्वीकारात्।

विशेष प्रकार का सम्बन्ध है जिसे वेदान्त में तादात्म्य-सम्बन्ध कहते हैं। तादात्म्य से यहाँ तात्पर्य 'एकपक्षीय आश्रितता' (One-sided Dependence) से है। रजत शुक्ति के ऊपर पूर्ण रूप से आश्रित है, पर शुक्ति रजत के ऊपर तनिक भी आश्रित नहीं है। तादात्म्य का यही मर्म है।

तादात्म्य-सम्बन्ध को हम एक-दूसरे प्रकार से भी समझ सकते हैं। शुक्ति एवं रजत या रज्जु एवं सर्प के बीच जो सम्बन्ध है :

(i) वह **सत्** सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यह दो भिन्न कोटि की सत्ताओं के बीच स्थापित होता है,

(ii) इसी प्रकार यह **असत्** सम्बन्ध भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस सम्बन्ध का हमें अनुभव होता है,

(iii) अत: यहाँ शुक्ति और रजत के बीच जो सम्बन्ध है, उसे आभासी (Apparent) सम्बन्ध कहा जाता है।

यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि आभासी सम्बन्ध ऐसा होता है कि इस सम्बन्ध के उच्चतर (Higher) सम्बन्धी का निषेध करने से निम्नतर (Lower) सम्बन्धी का निषेध स्वत: हो जाता है, किन्तु निम्नतर सम्बन्धी के निषेध करने से उच्चतर सम्बन्धी का निषेध नहीं हो जाता। यदि शुक्ति का निषेध किया गया तो रजत का स्वत: निषेध हो जाता है, पर रजत का निषेध व शुक्ति का विधान साथ-साथ सम्भव है। अर्थात् शुक्ति से पृथक् रजत के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती।[72] वेदान्त की भाषा में इसे आभास (Appearance) कहते हैं। शुक्ति रजत का अधिष्ठान या आश्रय है तथा रजत उसका आभास है।

जब कभी दो भिन्न कोटि की सत्ताओं के बीच संभ्रम होता है, अध्यास की उत्पत्ति होती है। यह अविद्या (Ignorance) के कारण होता है। जिस प्रकार ज्ञान की प्रक्रिया सम्भव होने के लिए ज्ञाता व ज्ञेय की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अविद्या या अज्ञान के लिए भी आश्रय और विषय की आवश्यकता होती है—

(i) **आश्रय** वह व्यक्ति विशेष है जिसके भीतर किसी वस्तु के प्रति अज्ञान पाया जाता है।

(ii) **विषय** वह वस्तु है जिसके सम्बन्ध में किसी आश्रय के भीतर अज्ञान पाया जाता है। यही अविद्या शुक्ति में रजत का आभास कराती है। यह अविद्या व्यवहार में दो प्रकार से कार्य करती है—

---

72. शांकरभाष्य, II, i, 14, अनन्यत्वम् व्यतिरेकेण अभावः।

(अ) यह शुक्ति के वास्तविक स्वरूप को छिपा देती है। वेदान्त की भाषा में इसे आवरण कहते हैं।

(ब) यह शुक्ति के स्थान पर रजत का आभास कराती है। वेदान्त में इसे **विक्षेप** कहते हैं। विक्षेप के पहले आवरण का होना आवश्यक है। अविद्या किसी वस्तु को पूर्ण रूप में नहीं छिपा पाती, यह किसी वस्तु के स्थान पर किसी दूसरी वस्तु का ज्ञान प्राप्त कराती है। इसीलिए भ्रम केवल अख्याति नहीं है, वरन् विपरीतख्याति है। वेदान्त के अनुसार विद्या और अविद्या के बीच केवल साधारण विरोध (Contradictory) है, आत्यन्तिक विरोध (Contradiction) नहीं।

अब प्रश्न यह है कि इस अविद्या का निवारण कैसे होगा ? जिस प्रकार अविद्या का एक आश्रय और विषय होता है, उसी प्रकार अविद्या के निवारण के लिए यह आवश्यक है कि विद्या या ज्ञान की उत्पत्ति उसी आश्रय के मन में व उसी विषय के प्रति सम्भावित हो। चूँकि अविद्या का एक निश्चित बाह्य वस्तु विषय होता है, इस कारण इसे केवल एक आत्मनिष्ठ विज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती। दूसरी विशेष बात यह है कि प्रत्येक भ्रम का एक निश्चित आश्रय होता है, अत: उसका विषय सार्वजनिक (Public) न होकर केवल वैयक्तिक (Private) ही होती है। व्यावहारिक जगत की वस्तुएँ सार्वजनिक होती हैं, पर प्रातिभासिक जगत् की वस्तुएँ वैयक्तिक ही होती हैं। यही दोनों में भेद है।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि यद्यपि सार्वजनिक एवं वैयक्तिक वस्तुओं में गुणात्मक भेद है तथा वे भिन्न-भिन्न स्तरों की सत्ताएँ हैं, फिर भी उनके बीच आत्यन्तिक भेद नहीं पाया जाता, क्योंकि अविद्या जो वैयक्तिक वस्तुओं को जन्म देती है, उसी मूल सत्ता पर आश्रित है जिस पर माया, जो सार्वजनिक वस्तुओं को जन्म देती है, आश्रित है। सार्वजनिक एवं वैयक्तिक वस्तुओं में दूसरी समानता यह है कि दोनों अन्तत: माया पर ही आश्रित हैं, क्योंकि अविद्या स्वयं माया पर आश्रित है। इसीलिए शंकराचार्य ने माया को मूलाविद्या एवं अविद्या को तूलाविद्या कहा है।

संसर्गाध्यास

साधारणतया दो प्रकार के अध्यास की कल्पना की गई है। प्रथम **स्वरूपाध्यास** जिसमें एक वस्तु के ऊपर दूसरी वस्तु का अध्यास किया जाता है, जैसे रज्जु के ऊपर सर्प का अथवा शुक्ति के ऊपर रजत का अध्यास। इस स्वरूपाध्यास से भिन्न एक दूसरा अध्यास है जिसे **संसर्गाध्यास** कहते हैं जिसमें आत्मा के ऊपर बाह्य वस्तुओं के गुणों का अध्यास किया जाता है। यह एक विशिष्ट प्रकार का अध्यास है जिसका अद्वैत वेदान्त में एक विशिष्ट महत्त्व है। इसका यहाँ विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा।

चिदात्मा में अध्यास की असम्भाव्यता

1. शारीरक भाष्य के उपोद्घात में शंकराचार्य ने आत्मा और अनात्मा को प्रकाश और अन्धकार के समान विरुद्ध स्वभाववाला बताया है। वे कहते हैं कि अनात्मा **युष्मत्प्रत्ययगोचर** है जबकि आत्मा **अस्मत्प्रत्ययगोचर** है। अनात्मा विषय और जड़ है जब कि आत्मा विषयी और चेतन है। इस प्रकार आत्मा और अनात्मा दोनों प्रकाश और अन्धकार के समान अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव वाले हैं।[73] जब आत्म एवं अनात्म वस्तुएँ प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाली हैं तो उनका इतरेतर भाव कैसे सम्भव हो सकता है? तात्पर्य यह है कि आत्म और अनात्म वस्तुओं में आत्यन्तिक विरोध होने के कारण आत्मा के ऊपर अनात्म वस्तुओं का अध्यास कैसे सम्भव हो सकता है?[74]

2. वाचस्पति मिश्र ने आत्मा में अध्यास न होने का एक दूसरा कारण भी दिया है। जिस किसी वस्तु में अन्य वस्तु का अध्यास होता है, उसके भीतर **पर-प्रकाश्यत्व, सावयवत्व, पुरोऽवस्थिततत्व एवं अपरोक्षत्व** का गुण पाया जाता है। शुक्ति एवं रज्जु में इन्हीं विशेषताओं के कारण ही अन्य वस्तुओं का अध्यास पाया जाता है। पर इसके विपरीत आत्मा में **स्वयंप्रकाश्यत्व, निरवयत्व, अन्तोऽवस्थिततत्व एवं अविषयत्व** पाया जाता है। ऐसी स्थिति में आत्मा के ऊपर अन्य वस्तुओं का अध्यास कैसे पाया जा सकता है? अर्थात् आत्मा के ऊपर अध्यास असम्भव है।

उपर्युक्त बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि जो वस्तु पराधीन प्रकाश है और अंशवाला है, वह सामान्य अंश के गृहीत और कारणदोषवश विशेषांश के अगृहीत होने से अन्यथा प्रकाशित होता है। किन्तु प्रत्यगात्मा तो अपराधीन प्रकाश होने से अपने ज्ञान के लिए अन्य कारणों की अपेक्षा नहीं रखता जिससे कि उसमें तदाश्रित दोषों से दूषित होने की सम्भावना हो। वह अंशवान भी नहीं है जिससे कि उसका कुछ अंश गृहीत हो और कुछ अंश अगृहीत।[75] इसलिए आत्मा के स्वयंप्रकाश पक्ष में अध्यास अनुपपन्न है। यदि आत्मा को सर्वदा अप्रकाशित माना जाय तो उसके पुरोऽवस्थिततत्व एवं अपरोक्षत्व के अभाव से अध्यास सम्भव नहीं है।[76] इस कारण

---

73. शांकर भाष्य, 1/1/1 युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोंः तमःप्रकाशवत् विरुद्धस्वभावयोः।
74. वही, इतरेतरभावानुपपत्तिः
75. भामती, पृ० 37 प्रत्यगात्मा त्वपराधीन प्रकाशतः न स्वज्ञाने कारणान्यपेक्षते, येन तदाश्रयैर्दोषैर्दूष्येत। न चांशवान, येन कश्चिदस्यांशो गृह्येत कश्चिन्न गृह्येत।
76. वही, सदातनेऽप्यप्रकाशे पुरोऽवस्थिततत्वस्यापरोक्षत्व स्याभावान्नाध्यासः ॥

प्रत्यगात्मा के अत्यन्त गृहीत होने पर अथवा अत्यन्त अगृहीत होने पर दोनों ही अवस्थाओं में अध्यास नहीं हो सकता। चिदात्मा विषयी होने के कारण अस्मत्प्रत्यय का विषय नहीं हो सकता। यदि चिदात्मा को भी विषय माना जाय तो उसे विषय करने के लिए एक-दूसरे चिदात्मा की कल्पना करनी पड़ेगी और इस प्रकार अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। इसका परिहार करने के लिए चिदात्मा को अविषय मानना ही होगा। उसके अविषय होने से अध्यास असम्भव होगा।

आत्मा के ऊपर अध्यास की सम्भाव्यता

यद्यपि ऊपर हमने देखा कि सैद्धान्तिक रूप में आत्मा के ऊपर अनात्म वस्तुओं का अध्यास होना सर्वथा असम्भव है, पर फिर भी व्यवहार में हमें आत्मा के ऊपर अनात्म वस्तुओं का अध्यास देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए, पुत्र और पुत्री आदि के विकल होने पर मैं भी विकल या दुःखी हूँ, इस प्रकार बाह्य पदार्थों के धर्मों का आत्मा के ऊपर आरोपित करना अध्यास है। इसी प्रकार देह के धर्मों का भी आत्मा के ऊपर आरोपण किया जाता है, जैसे **"मैं गोरा हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ, मैं खड़ा हूँ, या चल रहा हूँ"** इत्यादि।[77] कभी-कभी इन्द्रियों के धर्मों को भी हम आत्मा पर आरोपित करते हैं, जैसे **"मैं गूँगा हूँ, मैं नपुंसक हूँ, मैं बहरा हूँ, मैं अन्धा हूँ**, इत्यादि।"[78] शरीर एवं इन्द्रियों के गुणों को आत्मा के गुण समझना भ्रम है। यदि हमें अधिष्ठान तत्त्व "आत्मा" के वास्तविक स्वरूप का बोध होता तो हम इस प्रकार के भ्रम से ग्रस्त कभी न होते।

किन्तु यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि आत्मा के वास्तविक स्वरूप के विषय में हमें इस समय अज्ञान भले ही हो, पर उसके विषय में हम पूर्ण अज्ञानी भी नहीं है। कभी-कभी हमारे भीतर क्षणिक आत्म-दृष्टि उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि **"यह मेरा शरीर है", "यह मेरी आँख है"**, यहाँ हम एक ओर आत्मा और शरीर के बीच भेद कर रहे हैं तथा दूसरी ओर आत्मा और ज्ञानेन्द्रियों के बीच भेद स्थापित कर रहे हैं। पर यह विवेक माया या अविद्या में शीघ्र ही तिरोहित हो जाता है और हम एक बार पुनः अज्ञानी बन जाते हैं।

शंकराचार्य द्वारा समस्या का समाधान

यह ठीक है कि अध्यास सदा प्रत्यक्ष स्थित विषय में ही होता है, विषयी में नहीं, पर केवल विशुद्धात्मा को ही पूर्ण रूप से अविषय कहा जा सकता है, जीवात्मा को नहीं। इस

77. स्थूलोऽहम्, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, लंघयामि च।
78. मूकः, काणः, क्लीवः, बधिरः, अन्धोऽहम्।

जीवात्मा को शंकराचार्य ने **"प्रत्यगात्मा"** नाम दिया है जो विशुद्धात्मा से भिन्न है। जो प्रतीप प्रतिकूल वेदनीय अपने स्वरूप से भिन्न सुख-दुःखादि का अनुभव करता है, वह आत्मा प्रत्यगात्मा कहलाता है।[79] अतः, आत्मा और प्रत्यगात्मा में भेद है। विशुद्धात्मा भले ही प्रत्यक्ष का विषय न हो, पर प्रत्यगात्मा प्रत्यक्ष का विषय अवश्य होता है। शंकराचार्य ने इस तथ्य को निम्न प्रकार व्यक्त किया है : **"न तावदयमेकान्तेनाविषयः"**, अर्थात् आत्मा को नितान्त अविषय नहीं माना जा सकता। आत्मा बिलकुल अविषय क्यों नहीं है, इसके लिए शंकराचार्य ने दो सशक्त कारण भी प्रस्तुत किये हैं : अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात् और अपरोक्षत्वात् जिनके विषय में यहाँ क्रमशः वर्णन किया जायगा।

(1) **अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्**—यद्यपि आत्मा स्वयंप्रकाश होने के कारण अविषय और निरवयव है, तथा अनादि और अनिर्वचनीय अविद्या के द्वारा परिकल्पित बुद्धि और मन आदि से घटित सूक्ष्म शरीर एवं स्थूल शरीर रूप उपाधियों के द्वारा अवच्छिन्न होकर वस्तुतः अपरिच्छिन्न, अकर्त्ता, अभोक्ता और अविषयभूत आत्मा परिच्छिन्न, कर्त्ता, भोक्ता और अस्मत्प्रत्यय का विषय मान लिया जाता है। एक चिदात्मा जीवभाव को प्राप्त होकर विभिन्न रूपों में उसी प्रकार अवभासित होता है जिस प्रकार घट, मणिक (मटका) और मल्लिकादि (हाँड़ी आदि रूप) उपाधियों से अवच्छिन्न होकर एक ही आकाश विभिन्न रूप और धर्म वाला प्रतीत होता है। यद्यपि आत्मा अपरिच्छिन्न और स्वयंप्रकाश है, तथापि बुद्ध्यादि परिच्छिन्न पदार्थों से भेदाग्रह होने के कारण बुद्ध्यादि का तादात्म्याध्यास हो जाता है। बुद्ध्यादि से तादात्म्यापन्न आत्मा जीवरूप होकर "अहम् प्रत्यय" का विषय बन जाता है। इसी तथ्य को व्यक्त करने के लिए ही शंकराचार्य ने "अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्" पदसमूह का प्रयोग किया है। यदि कोई कहे कि "अध्यास होने पर विषयत्व और विषयत्व होने पर अध्यास होगा", इस प्रकार इसमें अन्योन्याश्रय दोष है, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि बीज और अंकुर के समान दोनों अनादि हैं। पूर्व-पूर्व अध्यास के द्वारा विषयीकृत आत्मा का उत्तरोत्तर अध्यास होता है—इस भाव को प्रकट करने के लिए ही शंकराचार्य ने **"नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः"** उक्ति का प्रयोग किया है। अर्थात् जीव के दो रूप हैं : (1) स्वाभाविक एवं (2) औपाधिक। स्वाभाविक रूप स्वयंप्रकाश या अविषय होने पर भी औपाधिक रूप से विषय हो जाता है।

(2) **अपरोक्षत्वात्**—आक्षेपवादी कहता है कि हमारा पक्ष यह नहीं है कि आत्मा स्वयंप्रकाश होने के कारण अविषय है, अतः उसमें अध्यास नहीं हो सकता है। हमारी

---

79. प्रतीपं विरुद्धं सुख-दुःखादिकं अञ्चति विजानातीति प्रत्यक् स चासौ आत्मा इति प्रत्यगात्मा।

आशंका तो यह है कि आत्मा न स्वतः, न परतः प्रकाशित होता है, अतः सर्वथा अप्रसिद्ध और अप्रथमान आत्मा में अध्यास क्योंकर होगा ? इस आक्षेप का समाधान करते हुए शंकराचार्य कहते हैं : **"अपरोक्षत्वाच्चं प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः"** । अर्थात् प्रत्यगात्मा की प्रसिद्धि अवश्य माननी होगी क्योंकि उसका अपरोक्षतः ज्ञान होता है । आशय यह है कि आत्मा को अवश्य ही अपरोक्ष रूप मानना होगा क्योंकि अन्यथा जगदान्ध्यप्रसंग उपस्थित हो जायगा । यदि आत्मा को भी पर-प्रकाश्य मना जाय तो ज्ञान में अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी ।

(3) समस्या के समाधान का एक तीसरा पक्ष यह है कि अपरोष विषय में ही अध्यास होता हो, ऐसा कोई नियम नहीं है ।[80] जिस प्रकार आकाश द्रव्य, रूप और स्पर्श गुण से रहित होने के कारण चक्षु, त्वचा इत्यादि ब्राह्य इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, आकाश मानस-प्रत्यक्ष का भी विषय नहीं क्योंकि बाह्य इन्द्रियों की सहायता के बिना मन प्रवृत्त ही नहीं हो सकता, फिर भी अज्ञानी लोग आकाश के ऊपर तल की मलीनता का आरोप करते हैं, उसी प्रकार अप्रत्यक्ष प्रत्यगात्मा में भी जगत् का अध्यास हो सकता है ।

उपर्युक्त तीनों कारणों के आधार पर सिद्ध किया गया कि विशुद्धात्मा तो नहीं, पर जीवात्मा अध्यास का आधार बन सकता है । जीवात्मा में अध्यास के आधार पर ही सम्पूर्ण लौकिक और वैदिक व्यवहार तथा विधि, निषेध और मोक्षपरक सारे शास्त्र प्रवृत्त होते हैं ।[81]

वाचस्पति मिश्र द्वारा समस्या का समाधान

वाचस्पति मिश्र ने भी अपने ढंग से आत्मा के ऊपर अध्यास को सम्भावित करने का प्रयत्न किया है । वे कहते हैं कि यद्यपि प्रत्यगात्मा स्वयंप्रकाश होने के कारण वस्तुतः आरोप का विषय नहीं है तथा वह अनंश होने के कारण भी आरोप का विषय नहीं है,[82] पर जिस प्रकार घट, माणिक, मल्लिका आदि अवच्छेकों के भेद से अनवच्छिन्न आकाश अवच्छिन्न सा तथा अनेक धर्म वाला अवभासित होता है, उसी प्रकार अनिर्वचनीय अविद्या से परिकल्पित बुद्धि, मन, शरीर, इन्द्रिय आदि अवच्छेदकों के द्वारा वस्तुतः अनवच्छिन्न

---

80. न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थिते एव विषये विषयान्तरमध्यासितव्यम् ।
81. अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालाः तलमनितादि अध्यसन्ति ।
82. भामती, पृ० 38, सत्यं प्रत्यगात्मा स्वयंप्रकाशत्वादविषयोऽनंशश्च ।

आत्मा अवच्छिन्न की तरह, अभिन्न होता हुआ भी भिन्न की तरह, अकर्त्ता होता हुआ भी कर्ता की तरह, अभोक्ता होता हुआ भी भोक्ता की तरह, अविषय होता हुआ भी अस्मत्प्रत्यय के विषय की तरह अवभासित होता है।[83]

कुछ लोग आक्षेप लगाते हैं कि आत्मा निरवयव है, अत:, उसके ग्रहीता हो जाने पर वह अध्यास का आधार कैसे बन सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि वस्तुत: आत्मा ग्रहीत हो जाने पर भी कल्पित भेद के कारण अविवेचित एवं अग्रहीत सा अवभासित होता है।[84]

यहाँ कुछ लोग एक दूसरी शंका भी उठाते हैं। मान लिया कि अनादि अविद्या के कारण आत्मा के ऊपर कल्पित भेदों का आरोपण है पर फिर भी यदि चिदेकरस आत्मा के स्वरूप का ग्रहण हो गया तो बुद्धयादि से उसके भेद का ग्रहण भी हो जाना चाहिए और ऐसी स्थिति में आत्मा के ऊपर बुद्धयादि का अध्यास नहीं होना चाहिए। इस शंका का समाधान करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि आत्मा का बुद्धयादि से जो भेद है वह तात्त्विक नहीं है जिससे कि आत्मा के ग्रहण से उस भेद का भी ग्रहण हो सके।[85] बुद्धयादि अनिर्वाच्य है, अत: उसका आत्मा से भेद भी अनिर्वाच्य ही होगा, तात्त्विक नहीं। जब तक आत्मा का अज्ञान है तब तक हमें केवल कल्पित भेदों का ज्ञान रहेगा और जब तक हमें कल्पित भेदों का ज्ञान रहेगा, तब तक आत्मा का ज्ञान हो नहीं सकता। इस प्रकार उनके पारस्परिक भेद का ज्ञान ही कैसे हो सकता है ? आत्मा के बुद्धयादि से भेद के ग्रहीत न होने के कारण बुद्धयादि का आत्मा पर आरोप सम्भव होता है। बुद्धयादि के आरोप के कारण स्वयंप्रकाश प्रत्यगात्मा जीवभावापन्न होता है। इस प्रकार जीव के अनिदम् (चैतन्य) और इदम् (बुद्धयादि) उभयात्मक होने से उसकी अस्मत्प्रत्ययविषयता उपपन्न है।[86]

चिदात्मा के स्वयंप्रकाश होने से उस पर बुद्धयादि का आरोप कैसे हो सकता है, इस शंका का समाधान करते हुए भामतीकार कहते हैं कि पूर्व-पूर्व अध्यास के कारण उसके स्वरूप का प्रकाश न होने से बुद्धयादि का आरोप सम्भव होता है।[87] किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि चिदात्मा सर्वथा अगृहीत एवं अप्रकाशित ही रहता है क्योंकि ऐसा होने पर वह आरोप का अधिष्ठान ही न बन सकेगा। आरोप के लिए आरोप के अधिष्ठान का

83. भामती, पृ० 38 अनवच्छिन्नोऽपि वस्तुतोऽवच्छिन्न इव, अभिन्नोऽपि भिन्न इव, अकर्त्तापि कर्त्तेव, अभोक्तापि भोक्तेव, अविषयोऽपि अस्मत्प्रत्ययविषय इव, जीवभावमापन्नोऽव भासते।
84. वही, गृहीता एव तु कल्पितेन भेदेनाविवेचिता इत्यगृहीता इवाभान्ति।
85. भामती, पृ० 38 न चात्मनो बुद्धयादिभ्यो भेदस्तात्त्विकः, येन चिदात्मनि गृह्यमाणे सोऽपिगृहीतो भवेत।
86. वही, पृ० 39 तस्य चानिदमिदमात्मनोऽस्मप्रत्ययविषयत्वमुपपद्यते।
87. भामती, पृ० 39 पूर्वपूर्वाध्यासद्वासनाविषयीकृतस्योत्तरोत्तराध्यासविषयत्वाविरोधात्।

प्रकाशन आवश्यक है। अपरोक्ष भ्रम का अधिष्ठान होने के लिए आत्मा का अपरोक्षत्व आवश्यक है, अन्यथा अध्यासोपयोगी प्रथम के अभाव से उस पर अध्यास नहीं हो सकेगा।[88] इस सम्बन्ध में भामतीकार का मत है कि चिदात्मा का अपरोक्षत्व अवश्य ही स्वीकार करना होगा क्योंकि यदि वही अप्रथित हो तो किसी वस्तु का प्रथन नहीं हो सकेगा और इस प्रकार जगदान्ध्य का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।[89]

चिदात्मा के वास्तविक स्वरूप के पूर्णतया ग्रहीत न होने पर भी उसे सर्वथा अग्रहीत एवं अप्रकाशित नहीं माना जा सकता। अतः, आत्मा के किञ्चित् गृहीत और किञ्चित् अगृहीत होने के कारण ही उस पर बुद्ध्यादि अनाम तत्त्वों का अध्यास सम्भव होता है। अध्यास के लिए वस्तु का किञ्चित् ग्रहण और किञ्चित अग्रहण आवश्यक है क्योंकि यदि उसका पूर्ण ग्रहण हो जाय अथवा पूर्ण अग्रहण हो तो दोनों ही अवस्थाओं में अध्यास असम्भव है।[90] अध्यास सत्यानृत के मिथुनीकरण का परिणाम है।[91] सत्यानृत का यह मिथुनीकरण तभी सम्भव है जबकि वस्तु का न तो पूर्णतया ग्रहण हो और न पूर्णतया अग्रहण ही हो। चिदात्मा के वास्तविक स्वरूप का न तो पूर्णतया ग्रहण होता है और न पूर्णतया अग्रहण ही। इसीलिए उस पर बुद्ध्यादि का आरोप संभव होता है।

---

88. भामती, पृ० 39 तथा च सर्वथाऽप्रथमाने प्रत्यगात्मनि कुतोऽध्यासः।
89. वही, पृ० अवश्यं चिदात्माऽपरोक्षोऽवगन्तव्यः तदप्रथायां सर्वस्याप्रथनेन जगदान्ध्य प्रसंगात्।
90. भामती, पृ० ३७ अत्यन्तग्रहेऽत्वन्ताग्रहे च नाध्यासः।
91. शांकर भाष्य, 1/1/1 सत्यानृतेमिथुनीकृत्य।

चतुर्थ अध्याय

ब्रह्म जिज्ञासाधिकरण

अथातोब्रह्मजिज्ञासा ॥ 1 ॥

अध्यास की व्याख्या के बाद शंकराचार्य और वाचस्पति मिश्र वेदान्त सूत्रों की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। वेदान्त सूत्रों में प्रथम सूत्र "अथातोब्रह्म जिज्ञासा" है। ब्रह्मजिज्ञासा का अर्थ ब्रह्म-ज्ञान की इच्छा है। इच्छा का साक्षात् विषय होने के कारण ब्रह्म-ज्ञान मुख्य प्रयोजन है। कर्मपरक वाक्यों से कर्म का ज्ञान और कर्म-ज्ञान से कर्म का अनुष्ठान किया जाता है। तब कहीं स्वर्ग-प्राप्ति रूप मुख्य प्रयोजन की सिद्धि होती है। इस प्रकार यहाँ कर्म-ज्ञान मुख्य प्रयोजन न होकर अवान्तर प्रयोजन ही है। पर ब्रह्म-ज्ञान के विषय में यह बात लागू नहीं होती। ब्रह्म-ज्ञान के बाद कुछ भी करना शेष नहीं रहता क्योंकि वेदान्तवाक्यों से उत्थापित असंदिग्ध ब्रह्म-ज्ञान द्वारा समस्त दुःखों का शमन होकर परमानन्द रूप परम प्रयोजन की सिद्धि होती है।[1] जिस प्रकार ग्रीवास्थग्रैवेयकन्याय की तरह अपने गले में विद्यमान हार किसी भ्रम के कारण विस्मृत और खो गया जैसा प्रतीत होता है और किसी व्यक्ति द्वारा स्मरण दिलाने पर प्राप्त प्रतीत होता है उसी प्रकार तत्त्व-ज्ञान ब्रह्मरूप होने के कारण सदैव प्राप्त है किन्तु अनादि अविद्या के कारण अप्राप्त होकर हमारी जिज्ञासा का विषय बन जाता है। जिज्ञासा संशय से उत्पन्न होती है और संशय मीमांसा के प्रारम्भ का प्रयोजक होता है। इस प्रकार विचारशील व्यक्ति की शास्त्र में प्रवृत्ति के हेतुभूत संशय और प्रयोजन को सूचित करने के लिए सूत्रकार ने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" की रचना की है।

"अथातोब्रह्म जिज्ञासा" में ब्रह्म की अपेक्षा "जिज्ञासा" का विशेष महत्त्व है। जिज्ञासा का विषय 'ज्ञान' है और ज्ञान का विषय 'ब्रह्म' है। जिज्ञासा 'संशय' और 'प्रयोजन' की सूचक है। जिस प्रकार निरर्थक और निष्प्रयोजन काक-दन्त-परीक्षा में कोई विचारशील व्यक्ति प्रवृत्त नहीं होता बल्कि सार्थक और सप्रयोजन वस्तु में ही वह प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञान की सार्थकता और सप्रयोजनता ही मनुष्यों को ब्रह्म-जिज्ञासा में प्रवृत्त करती है।

---

1. भामती, पृ० 55, निर्विचिकत्सं ब्रह्म ज्ञानमेव समस्त दुःखोपशमरूपमानन्दैकरसं परमं प्रयोजनम्।

"अथातोब्रह्म-जिज्ञासा" में 'अथ', 'अत:', 'ब्रह्म' और 'जिज्ञासा' चार पद प्रयुक्त हुए हैं। शंकराचार्य और वाचस्पति मिश्र ने इन पदों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है।

अथ—इनमें **'अथ'** पद की व्याख्या पर विशेष बल दिया गया है। शेष तीन पदों की व्याख्या संक्षेप में ही दी गई है। हम जानते हैं कि 'अथ' शब्द अनेकार्थक हैं। संस्कृत साहित्य में 'अथ' 'शब्द' पाँच भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है[2]—(1) मंगल, (2) अनन्तर, (3) आरम्भ, (4) प्रश्न, (5) कात्स्न्र्य अर्थात् सम्पूर्णता। अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऊपर प्रथम सूत्र में जो बादरायण ने 'अथ' शब्द का प्रयोग किया है, वह किस अर्थ में किया है। शंकराचार्य अपने भाष्य में 'अथ' शब्द के विभिन्न अर्थों पर विचार करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यहाँ 'अथ' शब्द का अर्थ 'आनन्तर्य' है।

(1) यहाँ 'अथ' शब्द **मंगलार्थक** इसलिए नहीं है कि इसका ब्रह्म जिज्ञासा के साथ समन्वय नहीं बैठता (समन्वयाभावात्)। 'अथ' शब्द को मंगलार्थक न मानने का दूसरा कारण यह है कि अन्य अर्थ जैसे आनन्तर्यार्थ में प्रयुक्त होने पर भी 'अथ' शब्द श्रवणमात्र से मंगलजनक होता है।[3] अर्थात् जैसे यात्रा पर जाते समय रास्ते में जल से भरा घड़ा दीख जाय तो लोग उसे मंगलदायक समझते हैं, यद्यपि वह जल-कुम्भ उस यात्री के शकुन के लिए नहीं ले जाया जा रहा है, इसी प्रकार ग्रन्थ के आरम्भ में अनन्तर, या आरम्भ आदि किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त 'अथ' शब्द केवल श्रवणमात्र से मंगलजनक होता है। इसके लिए पृथक् रूप में मंगल के लिए 'अथ' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है।

(2) इसी प्रकार शंकराचार्य के अनुसार 'अथ' शब्द का प्रयोग **'अधिकार'** या **'आरम्भ'** अर्थ में भी नहीं है, क्योंकि ब्रह्म-जिज्ञासा आरम्भ करने योग्य नहीं है।[4] महाभाष्य और योगदर्शन में 'अथ' शब्द को अधिकारार्थक या आरम्भार्थक माना गया है। महाभाष्यकार ने 'अथ शब्दानुशासनम्' की व्याख्या करते हुए लिखा है, 'यहाँ 'अथ' शब्द 'अधिकार' या 'आरम्भ' के रूप में प्रयोग किया गया है।[5] इसी प्रकार, योग दर्शन के प्रारम्भ में 'अथ योगानुशासनम्' इस सूत्र की व्याख्या में व्यास ने 'अथ' शब्द को

---

2. 'मंगलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ'।
3. अर्थान्तर प्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मंगलप्रयोजनो भवति।
4. ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्।
5. 'अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः।
शब्दानुशासनम् नाम शास्त्रं अधिकृतं वेदितव्यम्'।

अधिकारार्थक या आरम्भार्थक माना है।[6] किन्तु यहाँ शंकराचार्य 'अथ' शब्द को अधिकारार्थक नहीं मानते, क्योंकि ब्रह्म-जिज्ञासा का आरम्भ असम्भव है।

(3) पूर्वमीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी तथा वेदान्त सूत्रों के भाष्यकार बादरायण दोनों ने 'अथ' शब्द को आरम्भार्थक न मानकर **आनन्तयार्थक** माना है। यहाँ स्वाभाविक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि किस के अनन्तर धर्म-जिज्ञासा या ब्रह्म-जिज्ञासा करनी चाहिए। इसके लिए भाष्यकार हमारे समक्ष कई विकल्प प्रस्तुत करते हैं।

(अ) **स्वाध्यायानन्तर्य**— क्या वेदों का अध्ययन करने के बाद हमें ब्रह्म-जिज्ञासा करनी चाहिए? जिस प्रकार पूर्वमीमांसा या धर्मजिज्ञासाशास्त्र के पहले नियमित रूप से 'स्वाध्याय' या वेदाध्ययन की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार क्या वेदान्त दर्शन भी नियमत: पूर्ववर्ती स्वाध्याय या वेदाध्ययन की अपेक्षा रखता है? शंकराचार्य स्वाध्यायानन्तर्य वाली बात स्वीकार नहीं करते, क्योंकि स्वाध्यायानन्तर्य ब्रह्म-जिज्ञासा की प्रवृत्ति का विशेष हेतु न होकर धर्म-जिज्ञासा शास्त्र के साथ सामान्य हेतु है।[7] अत:, स्वाध्याय के बाद ब्रह्म-जिज्ञासा की बात ठीक नहीं जँचती।

(ब) **कर्मावबोधानन्तर्य**—तो क्या यहाँ आनन्तर्य का अर्थ कर्मावबोधानन्तर्य है? 'कर्मावबोध' से यहाँ तात्पर्य कर्मकाण्ड के परिज्ञान से है जो पूर्वमीमांसाशास्त्र के अध्ययन से प्राप्त होता है। अत: कर्मावबोधानन्तर्य का यहाँ अर्थ हुआ—पूर्वमीमांसाशास्त्र के अध्ययन के पश्चात् हमें ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। किन्तु शंकराचार्य इस मत से सहमत नहीं है, क्योंकि उनके अनुसार उपनिषदों के पढ़ने वालों को धर्म-जिज्ञासा के पूर्व भी ब्रह्म-जिज्ञासा हो सकती है।[8] धर्म-जिज्ञासा एवं ब्रह्म-जिज्ञासा के बीच ऐसा कोई क्रम विवक्षित नहीं है। वाचस्पति मिश्र ने भी इस सूत्र के भाष्य में 'अथ' शब्द के 'कर्मावबोधानन्तर्य' अर्थ का विरोध किया है। कुछ लोगों के अनुसार श्रुति ब्रह्मज्ञान में यज्ञादि कर्मों का अंग रूप में विनियोग करती है जैसे उपनिषद् कहता है "यज्ञ, दान और तप द्वारा लोग ज्ञान-प्राप्त करने की इच्छा करते हैं।"[9] इसका विरोध करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि कर्मानुष्ठान के बिना यदि वाक्य-श्रवण से वाक्यार्थ बोध नहीं होता तब विहित कर्मों के प्रवर्तक वाक्यों और निषिद्ध धर्मों के निवर्तक वाक्यों के बोध न होने से विहित कर्मों का अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मों का परित्याग कैसे होगा? यदि कहा जाय कि

6. 'योगानुशासनम् नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्'।
7. स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्।
8. धर्मजिज्ञासाया: प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्ते:।
9. बृह० उप०, 4, 4, 22 विविदिषन्ति यज्ञेन, दानेन तपसानाशकेन।

कर्मानुष्ठान से वाक्यार्थ बोध और वाक्यार्थ बोध से कर्मानुष्ठान माना जाता है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इससे अन्योन्याश्रयता दोष की प्राप्ति होगी। पुनः, यदि जीव व ब्रह्म के अभेद में योग्यता के लिए यज्ञादि को आवश्यक माना जाय तो जिज्ञासा होगी कि कर्मों को अप्रमाणभूत मानकर कारण माना गया है अथवा प्रमाणभूत मानकर। प्रथम विकल्प ठीक नहीं है क्योंकि उक्त योग्यता का अवधारण किसी प्रमाण के द्वारा ही उत्पन्न हो सकता है अप्रमाणभूत कर्मों द्वारा नहीं। कहा भी गया है—"योग्यता का अवधारण प्रमा द्वारा ही प्राप्त होता है।"[10] द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों में यज्ञादि कर्मों की गणना किसी ने भी नहीं की है। अतः, कर्मों को न तो अप्रमाणभूत कारण माना जा सकता है और न प्रमाणभूत कारण। यह कार्य युक्तियों द्वारा भी सम्पादित किया जा सकता है। इसीलिए भाष्यकार ने कहा कि धर्म-जिज्ञासा के पहले भी उपनिषदों के पढ़ने वालों को ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है। पूर्वमीमांसा की प्रक्रिया में क्रम की आवश्यकता दो स्थलों पर पड़ती है—प्रथम, 'शेषशेषीभाव' स्थल में तथा द्वितीय, 'अधिकृताधिकारभाव' स्थल में।

1. **शेषशेषीभाव सम्बन्ध**—जिस प्रकार पशुयाग के प्रसंग में आए हुए हृदयादि के अवदान या काटने में आनन्तर्य का नियम है, इस प्रकार का क्रम धर्म-जिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा में विवक्षित नहीं है।[11] क्योंकि धर्म-जिज्ञासा और ब्रह्म-जिज्ञासा के बीच शेषशेषीभाव या अंगांगिभाव मानने का कोई प्रमाण नहीं है।[12] मध्यकालीन युग में लोग यज्ञ में पशुहिंसा करते थे। उनमें पशु के विविध अंगों के काटने का वर्णन 'हृदयस्य अग्रे अवद्यति, अथ जिह्वाया अथ वक्षसः' इत्यादि वचनों द्वारा किया गया है। ये सब हृदयादि अवदान अंग हैं या शेष हैं तथा याग अंगी या शेषी हैं। इस प्रकार याग की दृष्टि से हृदयाद्यवदान और पशुयाग में शेषशेषीभाव सम्बन्ध है। अतः यहाँ क्रम विवक्षित है। पर, चूँकि धर्म-जिज्ञासा एवं ब्रह्मजिज्ञासा के बीच शेषशेषी भाव है ही नहीं तो इसके लिए कर्मावबोधानन्तर्य की आवश्यकता ही कैसे हो सकती है?

2. **अधिकृताधिकारभाव सम्बन्ध**—जिस प्रकार यदि कोई विद्यार्थी बी० ए० पास नहीं है, वह एम० ए० की परीक्षा में नहीं बैठ सकता, क्योंकि बी० ए० एवं एम० ए० की परीक्षा के बीच अधिकृताधिकारभाव-सम्बन्ध है, उसी प्रकार यहाँ प्रश्न यह है कि क्या धर्म-जिज्ञासा व ब्रह्म-जिज्ञासा के बीच भी अधिकृताधिकारभाव सम्बन्ध है? शंकराचार्य

10. प्रमाकारणं योग्यतावधारणम्।
11. क्रमस्य अविवक्षित्वात्।
12. शेषशेषित्वेः प्रमाणाभावात्।

का यहाँ मत यह है कि धर्मजिज्ञासा एवं ब्रह्म-जिज्ञासा के बीच अधिकृताधिकार भाव-सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उपनिषदों के पढ़ने वालों को धर्म-जिज्ञासा के पूर्व भी ब्रह्म-जिज्ञासा हो सकती है।[13] जब धर्म-जिज्ञासा एवं ब्रह्म-जिज्ञासा के बीच कोई क्रम विवक्षित नहीं है तो यहाँ 'अथ' का तात्पर्य कर्मावबोधानन्तर्य कदापि नहीं हो सकता।

3. **फलभेद**—धर्म-जिज्ञासा एवं ब्रह्म-जिज्ञासा के फलो के भिन्न होने से भी उनके बीच क्रम विवक्षित नहीं हो सकता।[14] धर्म-जिज्ञासा का फल **'अभ्युदय'** अर्थात् लौकिक और पारलौकिक समृद्धि की प्राप्ति है और वह **अनुष्ठान** की अपेक्षा रखता है।[15] तात्पर्य यह है कि केवल पूर्वमीमांसा के अध्ययन करने से ही 'अभ्युदय' की प्राप्ति नहीं हो जाती, उसकी प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के विहित कर्मों का अनुष्ठान भी करना होता है। इसके विपरीत, ब्रह्म-जिज्ञासा का फल **निःश्रेयम्** या **मोक्ष** की प्राप्ति है तथा उसकी प्राप्ति के लिए किसी दूसरे कर्म का अनुष्ठान करने की आवश्यकता नहीं होती है।[16]

4. **विषयभेद**—अब धर्म-जिज्ञासा एवं ब्रह्म-जिज्ञासा के विषयों के भेद की बात उठाई जाती है। जिस प्रकार धर्म-जिज्ञासा व ब्रह्म-जिज्ञासा के फल में भेद है, उसी प्रकार उनके विषयों में भी विलक्षणता पाई जाती है। धर्म-जिज्ञासा का विषय **भव्य**, अर्थात् कर्मानुष्ठान के उपरान्त उत्पन्न होने वाला है तथा धर्म-जिज्ञासा के ज्ञान-काल में विद्यमान नहीं है, क्योंकि उसके लिए पुरुष-व्यापार की आवश्यकता होती है।[17] इसके विपरीत, ब्रह्म-जिज्ञासा का विषय **भूत** अर्थात् नित्य सिद्ध ब्रह्म है। अतः इसके लिए किसी पुरुष-व्यापार की आवश्यकता नहीं है।[18] तात्पर्य यह है कि इन दोनों शास्त्रों के फलों तथा विषयों के नितान्त भिन्न होने के कारण उन दोनों में न शेष-शेषीभाव सम्बन्ध हो सकता है और न कोई क्रम ही विवक्षित है।

5. **चोदनाप्रवृत्ति भेद**—'चोदना' शब्द का अर्थ है—प्रेरणा देने वाला विधिवाक्य। धर्ममीमांसा के विधिवाक्यों की प्रवर्तकता भिन्न प्रकार की है। पूर्वमीमांसा में आए विधिवाक्य जैसे **'स्वर्गकामः यजेत्'** अर्थात्, 'याग स्वर्ग-प्राप्ति का साधन है' इस बात का

---

13. अधिकृताधिकारे प्रमाणाभावात्।
14. धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः फलजिज्ञास्यभेदाच्च।
15. अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं तच्चानुष्ठानापेक्षम्।
16. निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञानं न चानुष्ठानान्तरापेक्षम्।
17. भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्।
18. इह तु भूतं ब्रह्मजिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्।

बोध भी कराते हैं तथा याग के अनुष्ठान में अधिकारी व्यक्ति को प्रवृत्त भी करते हैं, क्योंकि पूर्वमीमांसा की मान्यता है कि याग के अनुष्ठान के बिना स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव नहीं है। 'धर्मचोदना' पुरुष को धर्म का बोध कराने के अतिरिक्त कर्म में प्रवृत्त भी करती है।[19] इसके विपरीत, 'ब्रह्मचोदना' या ब्रह्मपरक विधिवाक्य केवल ब्रह्मज्ञान प्राप्त कराते हैं, पुरुष को उसमें नियुक्त नहीं कराते।[20] जिस प्रकार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के द्वारा अर्थ का ज्ञान प्राप्त होता है[21], पुरुष को उसमें प्रवृत्त नहीं कराया जाता, उसी प्रकार ब्रह्मचोदना या ब्रह्मज्ञानपरक विधिवाक्य केवल ब्रह्म का ज्ञान कराते हैं, इसके लिए पुरुष को उसमें नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं होती। ब्रह्मज्ञान 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा उत्पन्न हो जाता है, इसके लिए किसी कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार विधिवाक्यों की प्रवृत्ति में भेद होने के कारण धर्म-जिज्ञासा और ब्रह्म-जिज्ञासा के बीच क्रम विवक्षित नहीं है।

कुछ व्याख्याकारों के अनुसार, जिस प्रकार चोदना-वाक्य (विधिपरक वाक्य) केवल विषय वस्तु का अवबोध ही नहीं कराता वरन् बोध्यमान पदार्थ में प्रवृत्त भी करता है, उसी प्रकार वेदान्त-वाक्य भी केवल ब्रह्मात्वबोध के जनक नहीं अपितु उसमें प्रवर्तक भी होते हैं, जैसे, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो मन्तव्यः"।[22] पर शंकराचार्य व वाचस्पति मिश्र इस व्याख्या को स्वीकार नहीं करते। वे प्रश्न करते हैं, कि यदि वेदान्त-वाक्यों को ब्रह्मावबोध में प्रवर्तक माना जाता है तब क्या (1) ब्रह्मविषयक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में? या (2) ब्रह्मोपासना में अथवा (3) परोक्षात्मक शाब्दबोध में? यहाँ प्रथम विकल्प उचित नहीं है क्योंकि ब्रह्म-साक्षात्कार ब्रह्मरूप होने के कारण नित्य है जिसके लिए किसी प्रकार के कर्म की अपेक्षा नहीं है। द्वितीय विकल्प भी संगत नहीं है क्योंकि किसी वस्तु का निरन्तर दीर्घकाल तक मनन करने से उसका साक्षात्कार सहजतः हो जाता है, उसके लिए उपासना-क्रिया की कोई अपेक्षा नहीं होती। तृतीय विकल्प भी सम्भव नहीं है क्योंकि जिस व्यक्ति को पद-पदार्थ की संगति का ज्ञान हो गया है उसे वेदान्त-वाक्यों का श्रवण करते ही ब्रह्म का शाब्दबोध-ज्ञान विधि के बिना वैसे ही सम्पन्न हो जाता हे जैसे इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के बाद नियमतः अर्थज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

---

19. या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति।
20. ब्रह्मचोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाऽजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते।
21. यथाक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे तद्वत्।
22. बृह० उप०, 2, 4, 5।

अब तक इस बात पर विचार किया गया कि 'अथ' शब्द का अर्थ यहाँ न तो स्वाध्यायानन्तर्य है और न कर्मावबोधानन्तर्य ही। अब यहाँ स्वभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि तब 'अथ' शब्द का वास्तविक अर्थ है क्या? किसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए? शंकराचार्य ने यहाँ 'अथ' शब्द का 'आनन्तर्य' अर्थ तो लिया है, पर यह न तो स्वाध्याय आनन्तर्य है और न कर्मावबोध-आनन्तर्य ही। तब यहाँ आनन्तर्य का क्या अर्थ है? भाष्यकार अब इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हैं।

(स) **साधनसंपत्यानन्तर्य**—शंकराचार्य के अनुसार, साधन-चतुष्टय के अनन्तर ब्रह्म-जिज्ञासा करनी चाहिए। वह साधन-चतुष्टय क्या है? शंकराचार्य के अनुसार वे साधन-चतुष्टय निम्न हैं—

1. **नित्यानित्य वस्तुविवेक**—नित्य अर्थात् ब्रह्म और अनित्य अर्थात् जगत् के बीच विवेक या भेद-ज्ञान। जब तक साधक के मन में नित्य वस्तु एवं अनित्य वस्तु के बीच अन्तर का ज्ञान नहीं होता, वह अनित्य वस्तु का परित्याग करके नित्य, वस्तु को प्राप्त करने के लिए उद्यत नहीं हो सकता।

2. **इहामुत्रार्थभोगविराग**—'इह' से यहाँ तात्पर्य 'सांसारिक' से है तथा 'अमुत्र' से यहाँ तात्पर्य 'पारलौकिक' से हैं। इस प्रकार, 'इहार्थ' एवं 'अमुत्रार्थ' विराग का अर्थ हुआ—सांसारिक सुखभोग एवं पारलौकिक सुखभोग दोनों के प्रति वैराग्य।

3. **शमदमादिसाधनसंपत्**—शमादि साधनसंपत् से यहाँ तात्पर्य षट्क सम्पत्ति से है। यहाँ भाष्यकार ने छः सम्पत्तियों का वर्णन किया है। प्रथम, **शम** है जिसका अर्थ बाह्य इन्द्रियों का निग्रह है, दूसरा **दम** है, जिसका अर्थ मन के निग्रह से हे, तीसरा, उपरति है जिसका अर्थ सांसारिक व्यापारों से विरक्त होना है, चौथा, तितिक्षा है जिसका तात्पर्य विभिन्न द्वन्द्वों की सहिष्णुता से है। हमारे जीवन में भूख-प्यास, शीत-उष्ण, सुख-दुःख इत्यादि कई प्रकार के द्वन्द्व आते हैं, उनसे विचलित न होना तितिक्षा है। पाँचवाँ, श्रद्धा है जिसका अर्थ गुरु के उपदेशों के प्रति विश्वास की भावना है। अन्तिम सम्पत्ति समाधान है जिसका तात्पर्य समाधि या मन की एकाग्रता है। इस प्रकार शम, दम, उपरति, तितिक्षा श्रद्धा और समाधान इत्यादि छः सम्पत्तियाँ हैं जिनसे संयुक्त रहने पर ही कोई साधक ब्रह्म-जिज्ञासा कर सकता है।

4. **मुमुक्षत्व**—'मुमुक्षत्व' से तात्पर्य मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा से है। यदि किसी साधक के मन में मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा विद्यमान है तो वह धर्मजिज्ञासा के पहले भी और बाद में भी ब्रह्म-जिज्ञासा कर सकता है।

अतः 'अथ' शब्द, शंकराचार्य के अनुसार, उपर्युक्त साधन-चतुष्टय सम्पत्ति के आनन्तर्य का बोधक है।

अतः—'अथ' शब्द की व्याख्या के बाद शंकराचार्य **'अतः'** शब्द की व्याख्या करने को अग्रसर होते हैं। 'अतः' शब्द **हेत्वर्थक** है, क्योंकि वेद ही अग्निहोत्रादि स्वर्ग-साधकों के फल की अनित्यता को सूचित करता है। श्रुति कहती है, 'जैसे यहाँ कर्मों द्वारा प्राप्त लोक अर्थात् जन्म का नाश होता है, उसी प्रकार परलोक में पुण्य द्वारा संचित लोक का भी नाश होता है।'[23] इसके विपरीत, ब्रह्मज्ञान के विषय में श्रुति कहती, है 'ब्रह्मज्ञानी परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।'[24] कर्मफल अनित्य है तथा ज्ञान का फल अर्थात् मोक्ष नित्य है, अतः मोक्ष की कामना करने वाले साधकों को वेदान्तवाक्यों का मनन करना चाहिए।[25]

ब्रह्म-जिज्ञासा—'अथ' और 'अतः' शब्दों की व्याख्या के बाद शंकराचार्य 'ब्रह्म-जिज्ञासा' पद की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं। ब्रह्म पर विचार करना ही ब्रह्म-जिज्ञासा है। **'ब्रह्मणः जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा'** इस विग्रह-वाक्य में 'ब्रह्मणः' यह कर्मषष्ठी है, शेषषष्ठी नहीं है, क्योंकि जिज्ञासा को जिज्ञास्य विषय (कर्म) की अपेक्षा है और ब्रह्म से भिन्न अन्य किसी कर्म का निर्देश यहाँ नहीं पाया जाता।[26]

कुछ पूर्व व्याख्याकार 'ब्रह्मणः जिज्ञासा' में 'कर्मषष्ठी' न मानकर 'शेषषष्ठी' मानते हैं। शेषषष्ठी का अर्थ है—सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी। कृदन्त पद के योग में कर्त्ता में भी षष्ठी हो सकती है और कर्म में भी।[27] किन्तु जहाँ दोनों में युगपत् षष्ठी प्राप्त हो, वहाँ कर्म में षष्ठी करनी चाहिए।[28] इस प्रकार, पूर्व व्याख्याकारों के अनुसार शेषषष्ठी मानने पर भी 'ब्रह्म' को जिज्ञासा का कर्म मानने में कोई विरोध नहीं है क्योंकि शेषषष्ठी में निहित सम्बन्ध सामान्य की समाप्ति भी किसी विशेष सम्बन्ध (यहाँ कर्म) में हो सकती है।[29] किन्तु शंकराचार्य इस शेषषष्ठी रूप सम्बन्ध-सामान्य को स्वीकार नहीं करते। कर्मषष्ठी मानने पर ब्रह्म पद में जिज्ञासा कर्मत्व का साक्षात् अन्वय हो सकता है तथा शेषषष्ठी मानकर पुनः उसका कर्म में उपसंहार करने से कर्मता परोक्ष रूप से आती है। ब्रह्म की

---

23. छान्दी० उप० 8/1/6, तद्यथेह कर्मचित्तो लोक क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचित्तो लोकः क्षीयते।
24. तैत्ति० उप० 2/1, ब्रह्मविदाप्नोति परम्।
25. कर्मफलस्य अनित्यत्वात् ज्ञानफलस्य मोक्षस्य च नित्यत्वात् मोक्षकामेन ब्रह्मज्ञानाय वेदान्त वाक्यानां विचारः कर्त्तव्यः।
26. ब्रह्मण इति कर्मणि षष्ठी न शेषे, जिज्ञास्यापेक्षत्वाज्जिज्ञासायाः जिज्ञास्यान्तरानिर्देशाच्च।
27. पाणिनि, 2/3/65, कर्तृकर्मणोःकृति।
28. वही, 2/6/66, उभयप्राप्तौ कर्मणि।
29. सम्बन्धसामान्यास्य विशेषनिष्ठत्वात्।

प्रत्यक्षकर्मता को छोड़कर परोक्षकर्मता का विचार करना व्यर्थ प्रयास है।[30] अतः, शंकराचार्य के अनुसार 'ब्रह्मणः जिज्ञासा' में शेषषष्ठी न मानकर कर्मषष्ठी ही मानना चाहिए।

शंकराचार्य के मत के विरोध में पूर्वव्याख्याकार यह कह सकते हैं कि कर्मषष्ठी की अपेक्षा शेषषष्ठी मानना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि केवल कर्मषष्ठी मानने में सम्बन्ध संकुचित हो जाता है, पर शेषषष्ठी मानने पर विचार का क्षेत्र पर्याप्त व्यापक हो जाता है। 'शेष' का अर्थ ही होता है—'सम्बन्ध-सामान्य' और उस 'सम्बन्ध-सामान्य' में कर्त्ता, कर्म, करण इत्यादि सभी सम्बन्धों का समावेश हो जाता है। इस प्रकार, ब्रह्म का सभी प्रकार का अशेष विचार 'शेषषष्ठी' पक्ष में आ जाता है।[31] अतः, 'शेषषष्ठी' मानकर ही हमें उसका उपसंहार 'कर्मषष्ठी' में करना चाहिए। इसलिए पूर्व व्याख्याकार कह सकते हैं कि उनका प्रयास व्यर्थ नहीं है।

उपर्युक्त आक्षेप का उत्तर देते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि पूर्व व्याख्याकार की बात सत्य नहीं है, क्योंकि प्रधान का ग्रहण हो जाने पर उससे सम्बद्ध सभी विचारों का ग्रहण स्वतः हो जाता है।[32] उनका पृथक् रूप में व्याख्यान करने की आवश्यकता नहीं होती। अब प्रधान कौन है? ज्ञान के द्वारा प्राप्त करने में ब्रह्म इष्टतम हैं, अतः वह प्रधान है।[33] जिज्ञासा के कर्मभूत उस ब्रह्म का ग्रहण हो जाने पर जिनके विचार के बिना ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं बन सकती उन सब का अर्थतः आक्षेप स्वयं ही हो जाता है। उदाहरण के लिए 'राजासौ गच्छति' **'यह राजा जा रहा है'** ऐसा कहने पर परिवारादि सहित राजा का गमन सूचित होता है, इसी प्रकार प्रधान ब्रह्म का ग्रहण हो जाने पर जिनके बिना उसका विचार पूर्ण नहीं होता, वे सब अर्थतः स्वयं ही आक्षिप्त हो जाते हैं। अतः शंकराचार्य के अनुसार, कर्मपष्ठी मानने पर भी ब्रह्माश्रित अशेष विचार हो सकता है, उसके लिए शेषषष्ठी मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

अब तक शेषषष्ठी के स्थान पर कर्मषष्ठी का प्रतिपादन युक्तियों के आधार पर किया गया। अब श्रुतियों को आधार मानकर इसी पक्ष का समर्थन किया जा रहा है।

---

30. प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वमुत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात्।
31. ब्रह्माश्रिताशेषविचारप्रतिज्ञानार्थत्वात्।
32. प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानामर्थाक्षिप्तत्वात्।
33. ब्रह्म हि ज्ञानेनाप्तुमिष्टतमत्वात्प्रधानम्।

'जिससे वे प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा उत्पन्न होने पर जीवित रहते हैं, तथा मरणोन्मुख होने पर जिसमें सभी लीन हो जाते हैं, उसे जानने की इच्छा करो, वह ब्रह्म है।'[34] इस श्रुतिवचन में ब्रह्म को जिज्ञासा का साक्षात् रूप में कर्म माना गया है। अत: कर्मषष्ठी मानना ही उचित है।

जिज्ञासा—अब तक अथ, अत:, ब्रह्मण:, इत्यादि की व्याख्या प्रस्तुत की गई। इसके बाद शंकराचार्य 'जिज्ञासा' शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। जिज्ञासा पद **ज्ञा धातु से सन् प्रत्यय** करने पर बनता है। हम जानते हैं कि सन् प्रत्यय इच्छार्थक होता है। इस विश्लेषण के अनुसार **'जानने की इच्छा, ही जिज्ञासा हुई।'**[35] ब्रह्मज्ञान-विषयक इच्छा की पूर्णता या समाप्ति ब्रह्म या ईश्वर-विषयक साक्षात्कार में होती है। अत: यहाँ जिज्ञासा पद से 'अवगतिपर्यन्तं ज्ञानम्' अर्थात् साक्षात्कारात्मक अनुभूति का ग्रहण होता है और उसका विषय या कर्म ब्रह्म है, क्योंकि इच्छा सदा फल-विषयिणी होती है।[36] ज्ञान रूप प्रमाण के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति इष्टतम है और ब्रह्म का साक्षात्कार ही परम पुरुषार्थ है क्योंकि उसके द्वारा संसार के बीजभूत अविद्यादि अनर्थ का नाश होता है। इसलिए सबको ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए।

अब यहाँ एक और गम्भीर प्रश्न उठ खड़ा होता है जो जिज्ञासा की **सम्भाव्यता** से है। प्रश्न यह है कि ब्रह्म **प्रसिद्ध** है अथवा **अप्रसिद्ध**? यदि वह लोक में **प्रसिद्ध** है या सबको **ज्ञात** है तो उसकी जिज्ञासा करने की आवश्यकता ही नहीं है तथा यदि वह अप्रसिद्ध या लोक में **अज्ञात** है तो उसकी जिज्ञासा सम्भव ही नहीं है। अत: दोनों अवस्थाओं में ब्रह्म-जिज्ञासा असम्भव है।

उपर्युक्त समस्या का समाधान करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म पूर्ण रूप में हमारे लिए अज्ञात नहीं है। 'ब्रह्म' शब्द की व्युत्पत्ति करने पर ब्रह्म के विभिन्न गुण स्वत: उत्पन्न हो जाते हैं।[37] **बृह् वृद्धौ धातु से 'ब्रह्म' शब्द बनता है** जिससे नित्यत्व, सर्वज्ञत्व, सर्व-शक्तिमत्व, सर्वव्यापकत्व, आदि ब्रह्म के गुण प्रकट होते हैं। जो देश की दृष्टि से सबसे बड़ा है, वह **सर्वव्यापक** है, जो **काल** की दृष्टि से सबसे बड़ा है, वह **नित्य** है, जो **ज्ञान** की दृष्टि से सबसे बड़ा है, वह **सर्वज्ञ** है तथा जो शक्ति में सबसे बड़ा है वह **सर्वशक्तिमान**

---

34. तैत्ति० उप०, 3/1 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।'
35. ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा।
36. अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छाया: कर्म, फलविषयत्वादिच्छाया:।
37. बृहत्वाद्ब्रह्म:।

है। ये सारे गुण ब्रह्म शब्द में ही निहित हैं।[38] इसके साथ सबका **आत्मभूत होने से उस ब्रह्म के अस्तित्व की प्रतीति होती है।**[39] प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व का अनुभव करता है। 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव नहीं करता है।[40] पुनः, आत्मा ही ब्रह्म है। अतः ब्रह्म अज्ञात नहीं है। अब यहाँ एक दूसरी समस्या उत्पन्न हो जाती है। यदि सबका आत्मा होने से ब्रह्म लोकप्रसिद्ध है तो फिर उसकी जिज्ञासा ही व्यर्थ हो जाती है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा का **सामान्य** रूप से अस्तित्व-ज्ञान होने पर भी उसके **विशेष स्वरूप** के विषय में लोगों में मतभेद पाया जाता है। अज्ञानी चार्वाक चैतन्ययुक्त शरीर को ही आत्मा कहते हैं। कुछ लोग **इन्द्रियों** को ही चेतन आत्मा मानते हैं। अन्य लोग **मन** को ही आत्मा समझ लेते हैं। योगाचार बौद्ध **क्षणिक** विज्ञान को आत्मा कहते हैं। माध्यमिक बौद्ध **शून्य** को ही आत्मा मानते हैं। **नैयायिकों** के अनुसार, आत्मा कर्त्ता और भोक्ता है जो देहादि से भिन्न है। कुछ विचारक आत्मा को केवल भोक्ता रूप में स्वीकार करते हैं, कर्त्ता रूप में नहीं। ईश्वर को मानने वाले जीवात्मा से भिन्न ईश्वर को ही सर्वशक्तिमान आत्मा है, ऐसा स्वीकार करते हैं। वही ईश्वर जीवात्मा का आत्मा, अर्थात् स्वरूपभूत है, ऐसा मानते हैं। इस प्रकार, भिन्न-भिन्न मतावलम्बी भिन्न-भिन्न रूपों में तर्क-वितर्क करके ब्रह्म का वर्णन करते हैं। इस विषय में उचित रूप से विचार किए बिना किसी विशेष मत को मान लेने वाला व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता, वह उल्टे अनर्थ में अवश्य फँस जाएगा। इन्हीं सब कठिनाइयों का परिहार करने के लिए ब्रह्म-जिज्ञासा के द्वारा अविरोधी तर्कों से उपनिषद् वाक्यों की मीमांसा की गई है जिससे कि सबके लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो सके। ब्रह्म-सूत्र के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' का यही तात्पर्य है।

---

38. ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते, बृहतेर्धातोः अर्थानुगमात्।
39. सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्व प्रसिद्धिः।
40. सर्वोह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न च नाहमस्मीति।

पंचम अध्याय

जन्माद्याधिकरण

2- जन्माद्यस्य यतः

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' नामक प्रथम सूत्र में शंकराचार्य ने ब्रह्म-जिज्ञासा के विषय पर विचार करने की प्रतिज्ञा की। ब्रह्म के स्वभाव की ओर थोड़ा संकेत अवश्य किया गया, पर उस पर विस्तारपूर्वक विचार प्रस्तुत नहीं किया गया। न्याय-दर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार किसी शास्त्र के तीन प्रधान अंग होते हैं—(1) उद्देश, (2) लक्षण और (3) परीक्षा।[1] इसमें प्रतिपाद्य विषय के नाममात्र का कथन करना उद्देश कहा जाता है।[2] उद्देश के बाद प्रतिपाद्य विषय के लक्षण या स्वभाव का वर्णन किया गया है। प्रतिपाद्य विषय के असाधारण धर्म का वर्णन करना लक्षण कहा जाता है।[3] उद्देश पदार्थों का यह लक्षण हो सकता है या नहीं इसका प्रमाणों के द्वारा निश्चय करना परीक्षा कहा जाता है।[4]

सूत्रकार ने प्रथम सूत्र के माध्यम से प्रतिपाद्य विषय का केवल नाम लिया। उद्देश कथन के बाद अब प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म के लक्षण या स्वभाव का वर्णन होना चाहिए। इसी लक्षण का वर्णन करने के लिए सूत्रकार द्वितीय सूत्र "जन्माद्यस्य यतः" का कथन करते हैं। पर इस सूत्र की व्याख्या करने के पूर्व हमें यह जान लेना चाहिए कि लक्षण क्या है? 'किंलक्षणम्' में 'किम्' शब्द आपेक्षार्थक है। आक्षेपवादी का आशय यह है कि विश्व में जो भी वस्तु अनुभूत होती है वह परिमित, अविशुद्ध, अबुद्ध और नश्वर है। उसकी उपलब्धि से उसके विरुद्ध नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव ब्रह्म का स्वरूप नहीं जाना जा सकता क्योंकि लोक में कृतक (जन्य) पदार्थ के द्वारा नित्य पदार्थ कभी भी लक्षित नहीं होता। नित्यत्वादि धर्मों के द्वारा नित्य ब्रह्म का लक्षण तो किया जा सकता है किन्तु नित्यत्वादि धर्म संसार में कहीं उपलब्ध ही नहीं है। नियम है कि लोक-प्रसिद्ध धर्म ही लक्षण माने जाते हैं, अत्यन्त अप्रसिद्ध धर्म नहीं। जब नित्य, शुद्ध, बुद्धस्वरूप ब्रह्म प्रसिद्ध ही नहीं, तब कोई पद भी उसका अभिधान कैसे करेगा? पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है। जब

---

1. न्यायभाष्य, 1/1 त्रिविधा चाऽस्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः उद्देशो, लक्षणं, परीक्षा चेति।
2. वही, नामधेयेन पदार्थमात्रस्याऽभिधानमुद्देशः।
3. वही, तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्।
4. वही, लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा।

संसार में 'ब्रह्म' पद का अर्थ ही नहीं है तो किसी वाक्य द्वारा ब्रह्म का बोध नहीं कराया जा सकता। परिणामस्वरूप ब्रह्म का कोई लक्षण न हो सकने के कारण ब्रह्म जिज्ञासितव्य नहीं हो सकता।

उपर्युक्त आक्षेप का परिहार करने के लिए ही सूत्रकार ने "जन्माद्यस्य यत:" सूत्र का निर्माण किया है। ब्रह्म का "तादात्म्येन" या "तद्धर्मत्वेन" लक्षण भले ही न बनता हो पर "तज्जन्यत्वेन" लक्षण अवश्य बनता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार किसी वस्तु का तीन प्रकार से लक्षण किया जा सकता है :

(1) तादात्म्येन, (2) तद्धर्मत्वेन और (3) तज्जन्यत्वेन।

1. **तादात्म्येन**—कोई लक्षण लक्ष्य से बिलकुल तादात्म्यापन्न होता है जैसे "शिंशपा" वृक्ष का तादात्म्येन लक्षण है। जैसे, यदि कोई कहे कि "यह वृक्ष शिंशपा है" तो यहाँ "शिशपा" जो वृक्ष का लक्षण दिया गया है वह तादात्म्येन लक्षण दिया गया है।

2. **तद्धर्मत्वेन**—कोई लक्षण लक्ष्य का धर्म होता है जैसे "सास्नादिमत्त्व" गौ का धर्म है। जैसे यदि कोई कहे कि "यह गाय सास्नादिमत है" तो यहाँ "सास्नादिमत्त्व" जो गाय का लक्षण दिया गया है वह तद्धमत्वेन लक्षण दिया गया है।

3. **तज्जन्यत्वेन**—कोई लक्षण लक्ष्य से उत्पन्न होकर लक्ष्य का लक्षण माना जाता है जैसे धूम्र अग्नि का लक्षण है। पर्वत पर धूम्र देखकर हम अग्नि का लक्ष्य कर लेते हैं क्योंकि धूम्र अग्नि से जन्य है। अत:, यहाँ धूम्र अग्नि का तज्जन्यत्वेन लक्षण है।

उक्त विवेचन के अनुसार यहाँ महर्षि बादरायण ने जो "जन्मादि" लक्षण द्वारा ब्रह्म को सिद्ध करने की चेष्टा की है, वह ब्रह्म का "तज्जन्यत्वेन" लक्षण है क्योंकि ब्रह्म से ही जगत् की सृष्टि,स्थिति और भंग सम्भव होता है।

ऊपर निर्देश किया गया है कि किसी वस्तु के व्यावर्तक गुण को लक्षण कहते हैं। वह असाधारण धर्म जो वक्षयमाण पदार्थ को छोड़कर अन्यत्र न पाया जाता हो, उसे लक्षण कहा जाता है। यह लक्षण दो प्रकार का हो सकता है—प्रथम, स्वरूप-लक्षण एवं द्वितीय, तटस्थलक्षण। वह लक्षण जो वस्तु के स्वरूप के अन्तर्गत आ जाता हो तथा अन्य वस्तुओं से भेद करने वाला हो, उसे स्वरूप-लक्षण कहते हैं।[5] उदाहरण के लिए, सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण है, क्योंकि ये तीनों लक्षण ब्रह्म के अन्तर्गत हैं एवं अन्य वस्तुओं से ब्रह्म को पृथक् करने वाले हैं। स्वरूप-लक्षण से भिन्न तटस्थ लक्षण होता है। जो लक्षण किसी वस्तु के अन्तर्गत न होने पर भी अन्य वस्तुओं से भेद करने वाला हो, उसे

---

5. स्वरूपान्तर्भूतत्वे सति अन्यव्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्।

तटस्थ लक्षण कहते हैं।[6] यहाँ द्वितीय सूत्र 'जन्माद्यस्य यत:' में सूत्रकार ने जो ब्रह्म का लक्षण प्रस्तुत किया है, वह तटस्थ लक्षण है, क्योंकि जगत् के जन्म, स्थिति और प्रलय ईश्वर के स्वरूप के अन्तर्गत नहीं आते, पर अन्य जीव तथा प्रकृति दोनों से ब्रह्म या ईश्वर को भिन्न करते हैं। अब शंकराचार्य 'जन्माद्यस्य यत:' सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

'जन्मादि + अस्य + यत:' इन तीन शब्दों से मिलकर **'जन्माद्यस्य यत:'** सूत्र बनता है। इन तीनों शब्दों की पृथक्-पृथक् व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

1. जन्मादि—जन्मादि का अर्थ है—जन्म जिनके आदि में है। जन्मादि से यहाँ जन्म, स्थिति और भंग अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों का ग्रहण होता है। इसे 'तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि' समास कहा जाता है। जिस व्याख्या के अनुसार जन्म का संग्रह भी जन्मादि पद से हो जाय, उसे 'तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि' कहा जाता है।[7] पर जिस व्याख्या के अनुसार, जन्म को छोड़कर केवल स्थिति और प्रलय दो का ही ग्रहण जन्मादि पद से हो, उसे 'अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि' कहा जाता है। चूँकि यहाँ शंकराचार्य 'जन्मादि' पद से जन्म, स्थिति एवं प्रलय तीनों को ग्रहण करना चाहते हैं, अत: उन्होंने 'जन्मादि' पद में 'तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि' स्वीकार किया है।

इस सूत्र में जो 'जन्म' को सबसे पहले कहा गया है, वह श्रुति-निर्देश एवं वस्तुस्थिति दोनों दृष्टि से कहा गया है। श्रुति संकेत करती है, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म।' इसमें जन्म, स्थिति एवं प्रलय का क्रम दिखाया गया है।[8] वस्तुस्थिति भी ऐसी ही होती है। प्रथम वस्तु का जन्म होता है तब उसकी स्थिति तथा प्रलय संभव होता है।[9] यह जन्मादि का भावार्थ है।

2. अस्य—'अस्य' पद से यहाँ प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाले जगत् (इदम्) का निर्देश किया गया है। इसमें जो षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है, वह जगत के जन्मादि के साथ सम्बन्ध को सूचित करती है।[10]

3. यत:—यत: पद से उपादान कारण और निमित्त कारण का निर्देश किया गया है।[11] नाम और रूप के द्वारा प्रकट हुए अनेक कर्त्ता और भोक्ता से युक्त जिसमें नियत देश और नियत काल पर ही जीवात्माओं को उनके कर्मों का फल प्राप्त होता है, ऐसे सूक्ष्म

---

6. स्वरूपान्तराभूतत्वे सति इतरव्यावर्तकं तटस्थलक्षणम्।
7. जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुण संविज्ञानो बहुव्रीहि:। जन्मस्थिति भंगं समासार्थ:।
8. इत्यस्मिन्वाक्ये जन्मस्थिति प्रलयानां क्रमदर्शनात्।
9. जन्मनालब्धसत्ताकस्य धर्मिण: स्थितिप्रलयसंभवात्।
10. अस्येति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिण इदमा निर्देश:।
11. यत इति कारणनिर्देश:।

एवं क्लिष्ट रचना वाले इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान कारण से होती है, उसे ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं। यह सूत्र का अध्याहार है। अत: 'जन्माद्यस्य यत:' सम्पूर्ण सूत्र का भावार्थ हुआ। 'इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जिस निमित्त कारण से होते हैं, वह ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है।' यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय से युक्त जगत् की सृष्टि सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर से ही क्यों हो सकती है? इसकी सृष्टि अचेतन प्रधान, अणु, अभाव, संसारी (जीवात्मा) या अन्य किसी कारण से सम्भव क्यों नहीं है?[12] इसके उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि प्रधान, अणु इत्यादि अचेतन कारणों से सृष्टि की रचना नहीं की जा सकती।[13] सृष्टि के लिए सर्वदा चेतन कारण की आवश्यकता होती है। जीवात्मा जो अज्ञानी व अशक्त है, स्वयं सृष्टि का कारण नहीं हो सकता। स्वभावत: भी सृष्टि सम्भव नहीं है, क्योंकि यदि स्वभावत: पदार्थों की उत्पत्ति हो जाय तो किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति के लिए विशिष्ट देश-काल या विशिष्ट सामग्री की आवश्यकता न हो।[14]

उपर्युक्त समस्या को वाचस्पति मिश्र ने निम्न प्रकार उठाने की चेष्टा की है। श्रुतियों में प्रधान (प्रकृति), काल, ग्रह (सूर्यादि), लोकपाल, क्रिया, यदृच्छा, स्वभाव, अभाव (शून्य) आदि द्वारा जगत् की उत्पत्ति प्रतिपादित है[15], ऐसी स्थिति में सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्म को जगत् का कारण कैसे माना जा सकता है? इस शंका का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं "अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य"। व्याकृतत्वादि विशेषणों से युक्त जगत् में चेतनकर्तृकत्व और भावकर्तृकत्व ही हो सकता है क्योंकि जिस पदार्थ को नाम और रूप दिया जाता है वह चेतनकर्तृक ही होता है जैसे घटादि। विवादास्पद जगत् नाम-रूपात्मक है, अत: चेतनकर्तृक है।[16] वह चेतन सत्ता ब्रह्म है। यदि कोई कहे कि ग्रह और लोकपालादि जो चेतन सत्ताएँ हैं वे अपनी बुद्धि में निर्देश करके जगत् की रचना कर देंगे, उसके लिए ब्रह्म की क्या आवश्यकता है, इस शंका का निराकरण करने के लिए भाष्यकार ने **"अनेककर्तृ भोक्तृसंयुक्तस्य"** का प्रयोग किया है। ग्रह, लोकपालादि भी तो

---

12. न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वान्यत: प्रधानादचेतनादणुभ्योऽभावात्संसारिणो वा उत्पत्यादि संभावयितुं शक्यम्।
13. रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्।
14. न च स्वभावत:, विशिष्टदेशकाल निमित्तानामिहोपादानात्।
15. भामती, पृ० 99, यत् खलु नाम्ना रूपेण च व्याक्रियते तच्चेतनकर्तृकम्दृष्टं, यथा घटादि। विवादाध्यासितं च जगन्नामरूपव्याकृतं, तस्माच्चेतनकर्तृकं सम्भाव्यते।
16. श्वेता, 1, 2 काल: स्वभावो, नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि:।

उसी जगत् में समाविष्ट हैं जिसका कर्त्ता ब्रह्म माना जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ पुरुष किसी कार्य के कर्त्ता ही होते हैं, भोक्ता नहीं जैसे ऋत्विग्गण यजमान से दक्षिणा लेकर यजमान के लिए कर्म करते हैं पर कर्म-जन्य फल का भोक्ता यजमान ही होता है, ऋत्विक् नहीं। इसी प्रकार कुछ पुरुष कर्म-जन्य फल के भोक्ता ही होते हैं, कर्त्ता नहीं जैसे श्राद्ध कर्म से जन्य फल के भोक्ता पितृगण ही होते हैं, कर्त्ता नहीं। इस प्रकार ब्रह्म द्वारा रचित जगत् में कर्त्ता और भोक्ता दोनों का समावेश है, केवल कर्त्ता या केवल भोक्ता नहीं। अतः, एक सत्ता ऐसी अवश्य होनी चाहिए जो सृष्टि का केवल कर्त्ता हो जो ब्रह्म या ईश्वर है।

जगत् किसी परिमित शक्ति वाले ग्रह या लोकपालादि की रचना न होकर किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर की रचना है, इसे सिद्ध करने के लिए वाचस्पति मिश्र ने एक दूसरा तर्क भी दिया है। सृष्टि के भीतर एक व्यवस्था या क्रम है जिसका निर्माण किसी साधारण चेतन सत्ता द्वारा सम्पादित नहीं किया जा सकता। इस व्यवस्था की अभिव्यक्ति के लिए भाष्यकार ने **"देशकालनिमित्तक्रियाफलानि"** का प्रयोग किया है। कुछ पदार्थ प्रतिनियत देश में ही उत्पन्न होते हैं जैसे काले हरिण स्वभावतः यज्ञ-योग्य देश में ही पाए जाते हैं। कुछ पदार्थ किसी काल-विशेष में ही होते हैं जैसे कोयल का मधुर स्वर बसन्त काल में ही सुना जाता है। कुछ वस्तुएँ नियत-निमित्तक होती है जैसे नवल मेघमाला का गर्जन सुनकर बगुलियाँ गर्भ-धारण करती हैं। कुछ लोगों की क्रिया नियत होती है जैसे ब्राह्मणों का ही यागादि कर्म कराना काम होता है, क्षत्रियादि का नहीं। इसी प्रकार कुछ प्राणियों का सुखादि रूप फल नियत होता है जैसे ब्रह्मलोकस्थ जीवों को सुख और नरकवासी प्राणियों को दुःख ही प्राप्त होता है। इस प्रकार का प्रपञ्च न तो स्वाभाविक हो सकता है और न यादृच्छिक किन्तु किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर द्वारा ही रचित हो सकता है। इतनी बड़ी सृष्टि की रचना साधारण लोगों की समझ के बाहर की बात है। इसीलिए भाष्यकार ने इसे **"मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपस्य"** कहा है।

'जन्माद्यस्य यतः' की व्याख्या में एक दूसरा प्रश्न भी उपस्थित हो सकता है, और वह यह है कि जिस प्रकार नैयायिक सृष्टि को कार्य मानकर उसके निमित्त-कारण के रूप में ईश्वर का अनुमान कर लेते हैं, उसी प्रकार क्या यहाँ वेदान्ती 'जन्माद्यस्य यतः' के आधार पर ब्रह्म या ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान कर रहा है? नैयायिकों का अनुमान निम्न प्रकार है : क्षित्यादिकं जगत सकर्तृकम्, जन्मादियुक्तत्वाद्, घटादिवत्। इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि 'जन्माद्यस्य यतः' कोई अनुमान नहीं है। अनुमान से ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अनुमान वहीं सम्भव है जहाँ व्याप्ति है। ब्रह्म एवं जगत् में जगत् तो प्रत्यक्ष का विषय है, पर ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अतः, दोनों के बीच व्याप्ति की स्थापना असम्भव होने से उसे अनुमान नहीं कहा जा सकता। अतः, 'जन्माद्यस्य

यत:' अनुमान का बोधक न होकर उपनिषद् वाक्य रूप कुसुमों के ग्रन्थन के लिए ही बनाया गया है ।[17] ब्रह्म का साक्षात्कारात्मक ज्ञान वाक्यार्थों के ज्ञान से ही उत्पन्न होता है, अनुमानादि अन्य प्रमाणों द्वारा नहीं ।[18] जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण ब्रह्म या ईश्वर ही है, इस आशय के वेदान्त-वाक्यों के प्रमाण रूप में उपस्थित होने पर ही उनके अर्थ-ज्ञान को दृढ़ करने के लिए उपनिषद् वाक्यों के समर्थक अनुमानादि प्रमाणों का प्रयोग किया जा सकता है । पर यदि केवल अनुमान के आधार पर ब्रह्म के अस्तित्व के प्रतिपादन की चेष्टा की जाय तो वह कभी भी सफल नहीं हो सकती । हाँ, श्रुति के सहायक के रूप में तर्क या अनुमान की प्रतिष्ठा की जा सकती है ।[19] श्रुति कहती है, 'श्रुति का श्रवण करो और उसके बाद तर्क या अनुमान द्वारा मनन करो ।'[20] इसी प्रकार दूसरी श्रुति कहती है, 'जिस प्रकार पंडित मेधावी पुरुष गांधार देश में पहुँच ही जाता है, उसी प्रकार उत्तम आचार्य को प्राप्त पुरुष आचार्य की सहायता से अपने ब्रह्म साक्षात्कार-रूप लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेता है ।'[21] इस वाक्य में पंडित और मेधावी पदों द्वारा तर्क और अनुमानादि को श्रुति के सहायक रूप में सूचित किया गया है ।

धर्म-जिज्ञासा एवं ब्रह्म-जिज्ञासा में भेद

ऊपर बताया गया है कि ब्रह्म का साक्षात्कार केवल श्रुति-प्रमाण द्वारा ही सम्भव है, तर्क, अनुमान आदि उनके सहायक रूप में ही कार्य कर सकते हैं। पर यही बात धर्म-जिज्ञासा पर भी तो लागू होती है । धर्म-जिज्ञासा में भी श्रुति को ही एकमात्र प्रमाण माना गया है । ऐसी स्थिति में ब्रह्म-जिज्ञासा की धर्म-जिज्ञासा से क्या विलक्षणता है ? इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार धर्म-जिज्ञासा में केवल श्रुति ही प्रमाण है, उसी प्रकार ब्रह्म-जिज्ञासा में ऐसी बात नहीं है । ब्रह्म-जिज्ञासा की विलक्षणता को वे निम्न प्रकार स्पष्ट करते हैं—

---

17. वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम् ।
18. वाक्यार्थ विचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ।
    ब्रह्मावगतिर्नानुमानादिप्रमाणान्तर निर्वृत्ता ।
19. श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात् ।
20. बृह० उप०, 2/4/5, 'श्रोतव्यो मन्तव्य:' ।
21. छान्दो० उप०, 6/14/2, 'पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्य-वान्पुरुषोवेद ।' इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यमात्मनो दर्शयति ।

(1) धर्म-जिज्ञासा में केवल श्रुति ही प्रमाण है, पर ब्रह्म-जिज्ञासा में श्रुति-प्रमाण के साथ अनुभव आदि प्रमाण भी हैं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान की समाप्ति अनुभूति के अन्दर होती है और ब्रह्मज्ञान भूतवस्तु (पूर्वसिद्ध वस्तु) विषयक होता है।[22] इसके विपरीत, कर्तव्य-विषय में अनुभव की आवश्यकता नहीं होती है, इस कारण केवल श्रुति को ही प्रमाण माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त कर्तव्य-विषय की स्वरूप सिद्धि पुरुष-व्यापार के अधीन होती है।[23] पर ब्रह्म् के सिद्ध होने से उसके लिए पुरुष-व्यापार की कुछ भी अपेक्षा नहीं है।

(2) कर्तव्य-विषय किस प्रकार पुरुष-व्यापार के अधीन होते हैं, इसका दृष्टान्त देते हुए भष्यकार कहते हैं कि लौकिक और वैदिक सारे कर्मों के विषय में तीन विकल्प उपस्थित होते हैं : वे किए भी जा सकते हैं, नहीं भी किए जा सकते हैं और अन्यथा भी किए जा सकते हैं।[24] लौकिक कर्म (गमन) का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि कोई व्यक्ति घोड़े पर चढ़कर जा सकता है अथवा पैरों द्वारा जा सकता है अथवा नहीं जा सकता है। यह सब पुरुष की इच्छा पर निर्भर करता है। इसी प्रकार, वैदिक कर्म का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि अतिरात्ररूप यज्ञ में कोई षोडशी नामक पात्र ग्रहण कर भी सकता है, नहीं भी ग्रहण कर सकता। यह सब पुरुष-व्यापार के अधीन है। यहाँ विधि, प्रतिषेध, उत्सर्ग तथा अपवाद सभी सार्थक होते हैं।[25] किन्तु पूर्वसिद्ध ब्रह्म पर ये सारी बातें लागू नहीं होती। वस्तु इस प्रकार की है या इस प्रकार की नहीं है, इस प्रकार के विकल्प का विषय नहीं होती है।[26] उसके विषय में उठाए जाने वाले विकल्प तो पुरुष की बुद्धि के अनुसार (भ्रमादि रूप) होते हैं।[27] वस्तु का यथार्थ ज्ञान पुरुषबुद्धि पर आश्रित न होकर वस्तु पर ही आश्रित होता है।[28] उदाहरण के लिए, एक स्थाणु के विषय में कि यह स्थाणु है अथवा पुरुष है अथवा कुछ अन्य वस्तु है, तत्त्वज्ञान नहीं कहा जा सकता। स्थाणु के लिए यह कहना कि यह पुरुष है या कोई अन्य वस्तु है, मिथ्या ज्ञान ही कहा जायगा। पर, इसके विपरीत, स्थाणु के विषय में यह कहना कि यह स्थाणु ही है, यह ज्ञान केवल वस्तु के अधीन होने से यथार्थ ज्ञान कहा जायगा।[29] इसी प्रकार, सिद्ध वस्तु के ज्ञान की

---

22. अनुभवावसानत्वाद्भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य।
23. कर्तव्ये हि विषये नानुभवापेक्षास्तीति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य।
24. कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म।
25. विधिप्रतिषेधश्चात्रार्थवन्तः स्युः, विकल्पोत्सर्गापवादाश्च।
26. न तु वस्त्वेवं नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते।
27. विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः।
28. न वस्तु याथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किं तर्हि वस्तुतन्त्रमेव तत्।
29. स्थाणुरेवेति तत्त्वज्ञानं वस्तुतन्त्रत्वात्।

प्रामाणिकता भी वस्तुतन्त्र ही होती है।[30] अत: ब्रह्म का ज्ञान भी सिद्धवस्तुरूप होने से वस्तुतन्त्र ही है।[31]

(3) ऊपर दिखाया गया कि ब्रह्म पुरुषव्यापारतन्त्र न होकर वस्तुतन्त्र ही है। वह धर्मजिज्ञासा का विषय कदापि नहीं हो सकता। अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया जा रहा है कि यदि ब्रह्म सिद्ध वस्तु है तो उसका ग्रहण प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा हो जायगा, उसके ग्रहण के लिए वेदान्त-वाक्यों की आवश्यकता ही क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म इन्द्रियगोचर न होने से प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ स्वभावत: लौकिक विषयों को ग्रहण करने वाली होती हैं, ब्रह्म या ईश्वर को ग्रहण करने वाली नहीं होती।[32] यदि ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं है तो वह अनुमान का विषय भी नहीं है। यदि ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय होता तो यह जगत् (कार्य) ब्रह्म से सम्बद्ध है अथवा किसी अन्य वस्तु से सम्बद्ध है, ऐसा निश्चय किया जा सकता था। पर चूँकि केवल जगत् ही हमारे प्रत्यक्ष का विषय है, ब्रह्म नहीं, अत: यह निर्णय करना कठिन है कि कार्यभूत जगत् ब्रह्म से उत्पन्न है, या किसी अन्य कारण से उत्पन्न है। अत:, जन्मादि सूत्र अनुमान को प्रस्तुत करने वाला नहीं है, वरन् उपनिषद्-वाक्य को प्रस्तुत करने के लिए है।[33]

अब यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि वे कौन से वेदान्त-वाक्य हैं जिनको लक्ष्य कर 'जन्माद्यस्य यत:' सूत्र लिखा गया है। इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि तैत्तिरीयोपनिषद् में एक प्रसंग आया है कि एक दिन वरुण ऋषि के पुत्र भृगु ऋषि अपने पिता वरुण ऋषि के पास गए और हाथ जोड़कर बोले, 'हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का ज्ञान कराइए।' भृगु की प्रार्थना सुनकर महर्षि वरुण ने भृगु को निम्न उपदेश दिया, 'जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और विनष्ट होते समय जिसमें विलीन हो जाते हैं, वहीं ब्रह्म है, तुम उसको जानने की चेष्टा करो।'[34] इस श्रुतिवाक्य के द्वारा वरुण ने भृगु को ब्रह्म का तटस्थ लक्षण बताया। ब्रह्म के तटस्थ लक्षण जानने के बाद उसके **स्वरूप-लक्षण** को जानने की स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है। इस स्वाभाविक जिज्ञासा की शान्ति के लिए प्रसंग के उपसंहार-वाक्य का वर्णन किया गया

---

30. एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्य वस्तुतन्त्रम्।
31. तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात्।
32. स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि।
33. तस्माज्जन्मादि-सूत्रं नानुमानोपन्यासार्थं, किं तर्हि वेदान्तं वाक्यप्रदर्शनार्थम्।
34. तैति० उप०, 3/1, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासत्व। तद्ब्रह्मेति।'

है—'आनन्द से ही यह सब भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं तथा विनष्ट होते समय आनन्द में ही लीन हो जाते हैं।'[35] इसी प्रकार के अन्य सजातीय उपनिषद-वाक्यों को लक्ष्य करके ही 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र की रचना की गई है।

इसी प्रकार के नित्यशुद्धबुद्धसर्वज्ञस्वरूप तथा जगत् के कारण ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले उपनिषद-वाक्य ही 'जन्माद्यस्य यतः' के आधार-रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।[36]

कुछ व्याख्याकार जैसे श्री भारती तीर्थमुनि का कहना है कि 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र में ब्रह्म का लक्षण बनता है या नहीं, इसमें संदेह है। ब्रह्म के दो लक्षणों की बात कही गई है—एक स्वरूप-लक्षण और दूसरा तटस्थ-लक्षण। पर यहाँ न तो स्वरूप-लक्षण की चर्चा की गई है और न तटस्थ-लक्षण की ही। ब्रह्म के स्वरूप के विषय में उपनिषदों में कहा गया है कि वह सत्यं, ज्ञानं और अनन्तम् है, पर यहाँ उसकी कोई चर्चा ही नहीं की गई है। अतः, यहाँ ब्रह्म के स्वरूप-लक्षण का वर्णन ही नहीं किया गया। 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र में जहाँ कि ब्रह्म के तटस्थ लक्षण की बात है, वह भी वहाँ नहीं बनती, क्योंकि जन्मादि की सत्ता ब्रह्म में न होकर जगत् में रहती है। अन्यनिष्ठ होने के कारण जगत् का जन्मादि ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता। अतः उपर्युक्त तर्क से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ब्रह्म का कोई लक्षण ही नहीं है।

उपर्युक्त आक्षेप का इस प्रकार उत्तर दिया जा सकता है कि जन्मादि अन्यनिष्ठ होने पर भी ब्रह्म का तटस्थ लक्षण हो सकता है। जिस प्रकार स्रक् में कल्पित भुजंगत्व भी स्रक् को लक्षित करता है, इसी प्रकार ब्रह्म में कल्पित जगत् कारणत्व भी ब्रह्म को लक्षित कर सकता है।[37] अतः, जन्मादि को ब्रह्म के तटस्थ-लक्षण होने में कोई आपत्ति नहीं है।

---

35. वही, 3/6, 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।'
36. अन्यान्यप्येवंजातीयकानि वाक्यानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावसर्वज्ञस्वरूप कारण विषयाण्युदाहर्तव्यानि।
37. यो भुजंगः सा स्रक्।

षष्ठम अध्याय

शास्त्रयोनित्वाधिकरण

3. शास्त्रयोनित्वात्

ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र द्वारा ब्रह्मजिज्ञासा की प्रतिज्ञा की गई। द्वितीय सूत्र द्वारा यह दिखाया गया कि इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय जिस निमित्त कारण से सम्भव होते हैं, वह ब्रह्म या ईश्वर है। ब्रह्म को जगत् का कारण बताकर उसके दो लक्षणों—स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ लक्षण का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया गया। चूँकि ब्रह्म जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों है, इस कारण उसकी सर्वज्ञता प्रसिद्ध ही है। अब इसी द्वितीय सूत्र के सातत्य में सूत्रकार ने तृतीय सूत्र "शास्त्रयोनित्वात्" की रचना की है। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि विशाल विश्व की कारणता मात्र से ही ब्रह्म में सर्वज्ञता नहीं, अपितु ऋग्वेदादि महान् शास्त्रों का प्रणेता होने से भी उसकी सर्वज्ञता दृढ़ होती है।[1] प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक सम्पादनीय नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों तथा ब्रह्म-तत्त्व का शासन करने के कारण ऋग्वेदादि को शास्त्र कहा जाता है। केवल प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से ही नहीं अपितु, सभी अंगों और उपांगों को मिला देने से उनका कलेवर महान् हो जाता है।[2] वेदों के छह अंग होते हैं : शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। इनमें पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र मिला देने से सब दस विद्यास्थान कहे जाते हैं। इन विद्यास्थानों सहित वेदों को 'शास्त्र' के नाम से अभिहित किया जाता है।

शंकराचार्य ने "शास्त्रयोनित्वात्" सूत्र की दो प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत की है। इस व्याख्या की द्व्यर्थकता 'योनि' शब्द की द्व्यर्थकता के कारण है। 'योनि' शब्द का प्रथम अर्थ **कारण** है तथा दूसरा अर्थ **प्रमाण** है।

---

1. जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तम्, तदेव द्रढयति।
2. अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य।

(1) **शास्त्रस्य योनिः**—'योनि' शब्द की प्रथम व्याख्या के अनुसार शास्त्र अर्थात् वेदादि की योनि या कारण ब्रह्म है ।[3] यहाँ 'योनि' का तत्पुरुष समास में प्रयोग किया गया है । "शास्त्र योनित्वात्" का शाब्दिक अर्थ है : शास्त्र का कारण (योनि) ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई नहीं हो सकता । शास्त्र अर्थात् अनेक विद्याओं से परिपूरित तथा दीपक के समान समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाले (**प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः**) सर्वज्ञ के समान महान् ऋग्वेदादि का कारण ब्रह्म ही हो सकता है ।[4] समस्त अर्थों का जो स्पष्ट अवबोधक होता है, उसे न तो अबोधक कह सकते हैं और न अस्पष्ट बोधक । अतएव वेदों को **"सर्वज्ञकल्प"** कहा जाता है । जिस प्रकार सर्वज्ञ पुरुष का ज्ञान सर्वविषयक होता है, उसी प्रकार शास्त्रों का अभिधान भी सर्वविषयक होता है । अतः, इस प्रकार के शास्त्र की उत्पत्ति सर्वशक्तिमान ब्रह्म को छोड़कर अन्य किसी से सम्भव नहीं है । यह नियम है कि जिस शास्त्र की रचना जिस विद्वान् के द्वारा की जाती है, वह उस शास्त्र से भी अधिक ज्ञानवान होता है ।[5] जिस प्रकार व्याकरणादि शास्त्र महर्षि पाणिनि के समस्त ज्ञान का केवल एक अंश ही है, पाणिनि उससे कहीं अधिक ज्ञानवान हैं, उसी प्रकार अनेक शाखाओं के भेद से युक्त देव, तिर्यक्, मनुष्य, वर्ण, आश्रम आदि का विभाग करने वाले समस्त ज्ञान के आकर ऋग्वेदादि नामक महान् शास्त्र की उत्पत्ति श्वास-प्रश्वास के समान अनायास ही जिस ब्रह्म से हुई है, उसकी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता के विषय में तो कहना ही क्या है ? ईश्वर से ऋग्वेदादि की उत्पत्ति **"लीलानिश्वसितन्याय"** से अर्थात् अनायास बिना किसी प्रयास से सहज स्वाभाविक रूप में हुई है । श्रुति कहती है, "जिस महान् शक्तिशाली के निःश्वास के समान यह ऋग्वेद उत्पन्न है,[6] उस महान् शक्तिशाली की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता सर्वप्रसिद्ध है ।"[7]

उपर्युक्त तथ्य को न्याय-प्रयोग द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है । वेदान्त-कल्पतरु के रचयिता श्री अमलानन्द ने इस अनुमान का पूर्ण आकार निम्न रूप में प्रस्तुत किया है—

प्रतिज्ञा—ब्रह्मवेदविषयादधिक विषयक ज्ञानवत् ।

हेतु—तत्कर्तृत्वाद् ।

---

3. शास्त्रस्य योनिः शास्त्रयोनिः तस्यभावः शास्त्रयोनित्वं तस्मात् शास्त्रयोनित्वात् ।
4. महत् ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्या-स्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म ।
5. यद् यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषात् सम्भवति, स ततोऽप्यधिकतरविज्ञानः ।
6. बृह० उप० 2, 4, 10—अस्य महतो भूतस्य निःश्वासितमेतद्यऋग्वेदः ।
7. तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं चेति ।

उदाहरण—यो यद्वाक्यप्रणयनकर्त्ता, स तद्विषयादधिकविषयज्ञः, यथा पाणिनीयव्याकरणात् पाणिनिः ।

अर्थात् 1—ब्रह्म वेद में वर्णित विषयों से अधिक ज्ञानवान है,

2—उसका कर्त्ता होने के कारण,

3—जो जिस ग्रन्थ का प्रणयन करता है, वह उस ग्रन्थ में वर्णित ज्ञान से अधिक ज्ञानवान होता है, जैसे पाणिनीय व्याकरण से पाणिनि अधिक ज्ञानवान है ।

इस प्रकार ब्रह्म शास्त्रों का कारण कहा जाता है ।

(2) **शास्त्रं योनिः अस्य—**दूसरी व्याख्या के अनुसार, सूत्रकार ने जो ब्रह्म को जगत् के जन्मादि का कारण कहा है, वह 'शास्त्रयोनि' या शास्त्रप्रमाणक है ।[8] यहाँ 'योनि' शब्द का बहुब्रीहि समास में प्रयोग किया गया है । दूसरे शब्दों में शास्त्र अर्थात् ऋग्वेदादि इस ब्रह्म के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान में योनिः अर्थात् प्रमाण हैं ।[9] इसका अभिप्राय यह है कि जगत् के जन्मादि अर्थात् उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का कारण ब्रह्म है, यह शास्त्र-प्रमाण से ही सिद्ध होता है ।[10] यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब जगत् के जन्मादि का हेतु ब्रह्म है, यह बात पिछले सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' में ही कही जा चुकी है तो फिर इस सूत्र की रचना करने की आवश्यकता ही क्यों पड़ी ? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि पूर्व सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' में शास्त्र का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है । शास्त्र का उल्लेख केवल भाष्य में ही किया गया है । अतः, लोगों के मन में शंका हो सकती है कि 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र में केवल अनुमान ही प्रस्तुत किया गया है । अर्थात् शास्त्र के आधार पर सूत्र की रचना नहीं की गई है । इस शंका के निवारण के लिए ही सूत्रकार ने 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र की रचना की है ।

इस प्रकार हमने देखा कि यहाँ 'शास्त्रयोनित्वात्' की दो प्रकार से व्याख्या की गई । प्रथम, ब्रह्म को शास्त्रों का कारण माना गया, तथा द्वितीय, शास्त्रों को ब्रह्म के लिए प्रमाण माना गया । प्रथम व्याख्या के अनुसार यदि ब्रह्म वेद का कर्त्ता है तो क्या वह उसी प्रकार का कर्त्ता है जैसा कुम्भकार घट का कर्त्ता है । श्रुति और स्मृति में वेद को 'नित्या वाक्' कहा गया है, अतः ब्रह्म या ईश्वर उसका साधारण कर्त्ता कभी नहीं हो सकता । पुनः, ब्रह्म को 'अपौरुषेय' भी माना गया है । अतः, वह कुम्भकार के समान वेदों का कर्त्ता नहीं माना जा सकता । तब वह किस प्रकार वेदों का कर्त्ता माना जा सकता है ? इस समस्या के समाधान

---

8. शास्त्रं योनिः प्रमाणं यस्मिन् तस्य भावः शास्त्रयोनित्वं तस्मात् शास्त्रयोनित्वात् ।
9. ऋग्वेदादि शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत्स्वरूपाधिगमे ।
10. शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मादिगम्यत इत्यभिप्रायः ।

के लिए ही शंकराचार्य ने यहाँ बृहदारण्यक उपनिषद् से उद्धरण दिया है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति का श्वास और प्रश्वास स्वाभाविक रूप में चलता है, उसके लिए उसे किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार सभी वेद ब्रह्म या ईश्वर से स्वाभाविक रूप में निर्गमित होते हैं। उसके लिए ईश्वर को किसी प्रकार के प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। अत:, ईश्वर वेदों का साधारण कर्त्ता न होकर असाधारण कर्त्ता है।

दूसरी व्याख्या के अनुसार, शास्त्र ब्रह्म का प्रमाण है, अर्थात् शास्त्र द्वारा ही ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ब्रह्म निराकार है, अत: प्रत्यक्ष द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। निराकार होने के कारण किसी लिंग के साथ उसकी व्याप्ति स्थापित नहीं की जा सकती। अत:, निराकार होने के कारण ब्रह्म न तो प्रत्यक्षगम्य है और न अनुमानगम्य ही।[11] वह केवल शास्त्र प्रमाण द्वारा ही जाना जा सकता है। सूत्र का यही अभिप्राय है।

---

11. भारती तीर्थमुनि, वैयासकिन्यायमाला—
रूपलिंगादिराहित्यान्नास्य मान्तरयोग्यता।
तं त्वौपनिषदेत्यादौ प्रोक्ता वेदैकमेयता॥

सप्तम अध्याय

समन्वयाधिकरण

4. तत्तु समन्वयात्

प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' द्वारा ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा की गई। द्वितीय सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ लक्षण का विवरण प्रस्तुत किया गया। तृतीय सूत्र "शास्त्रयोनित्वात् के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया कि ब्रह्म ही शास्त्रों का कर्त्ता है या ब्रह्म के विषय में शास्त्र ही एक मात्र प्रमाण है। चतुर्थ सूत्र "तत्तु समन्वयात्" यह प्रदर्शित करता है कि समस्त वेद, उपनिषद् आदि एक स्वर से ब्रह्म को वेदों का प्रतिपाद्य विषय और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण बताते हैं। ब्रह्म ही समस्त शास्त्रों का 'समन्वय' है। ब्रह्म के विषय में शास्त्रों को प्रमाण तभी माना जा सकता है जब कि शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म ही हो। 'तत्तु समन्वयात्' के द्वारा इसी बात को प्रदर्शित किया जा रहा है कि वेद के सभी वाक्यों का निहितार्थ ब्रह्म ही है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

जिस प्रकार शंकराचार्य ने प्रथम सूत्र "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" की पर्याप्त विस्तारपूर्वक व्याख्या प्रस्तुत की है, उसी प्रकार उन्होंने चतुर्थ सूत्र "तत्तु समन्वयात्" की भी पर्याप्त विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। भाष्यकार ब्रह्म को ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय मानते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी भारतीय दार्शनिक हैं जो इस सम्बन्ध में अपना विरोधी मत प्रस्तुत करते हैं। इनमें सबसे प्रमुख विरोधी मत मीमांसकों का है। यदि वेदान्ती ज्ञानमार्ग के अनुयायी हैं तो मीमांसक कर्ममार्ग के अनुयायी हैं। उनके अनुसार सारे वैदिक साहित्य में किसी न किसी कर्म का ही प्रतिपादन किया गया है। वह कर्म चाहे विधि रूप हो या निषेध रूप हो, किन्तु कर्म के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ का प्रतिपादन वेदों में नहीं किया गया है। महर्षि जैमिनि का कथन है कि सारा आम्नाय या वेद क्रियापरक है। यदि वह क्रियापरक नहीं है तो वह निरर्थक है, क्योंकि उसके आधार पर किसी वस्तु के हानि या उपादान में कोई सहायता नहीं मिलती है।[1]

---

1. जैमिनि सूत्र, 1/2/1—आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।

पर यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वेदों में बहुत से ऐसे वाक्य हैं जो विधि या निषेध रूप में किसी क्रिया का वर्णन नहीं करते। उदाहरण के लिए, ब्राह्मण ग्रन्थों में 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता' अर्थात् 'वायु शीघ्रगामी देवता है' इत्यादि कुछ ऐसे वाक्य आते हैं जो बिलकुल ही क्रियापरक नहीं हैं। तो क्या ऐसे 'अतदर्थ' या अक्रियार्थक वाक्य निरर्थक कहे जायँगे ? वेद के कुछ वाक्यों को सार्थक और अन्य वाक्यों को निरर्थक कैसे कहा जा सकता है ? मीमांसाशास्त्र में ऐसे सिद्धार्थ वाक्यों (Existential Statements) की विधायक वाक्यों (Injuntive Statements) के साथ संगति बैठाने की पर्याप्त चेष्टा भी की गई है। मीमांसा शास्त्र में ऐसे वाक्यों को **'अर्थवाद वाक्य'** कहा जाता है। अर्थवाद वाक्य वे वाक्य हैं जो स्वतन्त्र रूप में किसी कर्म का प्रतिपादन तो नहीं करते, पर प्रशंसा या निन्दा द्वारा मनुष्य के उस विशेष कर्म में, जिसकी कि वे प्रशंसा या निन्दा करते हैं, प्रवृत्ति या निवृत्ति की प्रेरणा अवश्य देते हैं।[2] इस प्रकार, वे परोक्ष रूप में क्रियापरक बन जाते हैं। 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता' यह वाक्य वायुदेवता को अत्यन्त शीघ्रगामी देवता कहकर उसकी प्रशंसा करता है और उसका सम्बन्ध वायुयाग से जोड़ देता है। उपर्युक्त अर्थवाद वाक्य का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वायु अत्यन्त शीघ्रगामी देवता है, उसी प्रकार वायुयाग अत्यन्त शीघ्र फल प्रदान करने वाले होते हैं। इस प्रशंसात्मक वाक्य को पढ़ कर या सुन कर लोगों के मन में वायुदेवताक कर्म में शीघ्र प्रवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार "वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता" इत्यादि अर्थवाद वाक्यों की सार्थकता किसी विधि-वाक्य के साथ एक्वाक्यता होने पर ही सिद्ध होती है।[3]

अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब मीमांसकों के अनुसार सभी वेदवाक्य क्रियापरक हैं, यहाँ तक कि अर्थवाद-वाक्य भी किसी न किसी क्रिया करने की प्रेरणा ही देते हैं तो वेदान्तियों की यह बात कैसे स्वीकार की जा सकती है कि ब्रह्म जो एक सिद्ध पदार्थ है, वेदों का प्रतिपाद्य विषय है ?[4] यहाँ जैमिनि और बादरायण के बीच प्रबल विरोध है। शंकराचार्य ने मीमांसकों के इसी सिद्धान्त को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर अपनी प्रबल व सूक्ष्म युक्तियों के द्वारा खण्डन किया है तथा यह सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है कि ब्रह्म या ईश्वर ही वेदों का प्रतिपाद्य विषय है।

मीमांसकों के दो सम्प्रदाय हैं—प्रथम, कुमारिल भट्ट का सम्प्रदाय जिसे भाट्टमत या तौतातिक मत भी कहा जाता है, दूसरा, प्रभाकर का मत जिसे गुरुमत भी कहते हैं। प्रथम

---

2. प्रशंसा निन्दा अन्यतरपरं वाक्यं अर्थवादः।
3. जैमिनि सूत्र, 1/2/7—विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः।
4. ब्रह्मसूत्र, 1/1/3, शास्त्रयोनित्वात्।

मत के संस्थापक कुमारिल भट्ट हैं तथा दूसरे मत के संस्थापक प्रभाकर गुरु हैं। वैसे प्रभाकर कुमारिल भट्ट के शिष्य थे, पर कभी-कभी वे सिद्धान्तों की व्याख्या में अपने गुरु से स्वतन्त्र मत का प्रतिपादन करते थे। वाक्यार्थ-ज्ञान के सम्बन्ध में भी दोनों विचारकों के मत में पर्याप्त भिन्नता दिखाई देती है। वाक्यार्थ-ज्ञान के सम्बन्ध में मीमांसकों के दो मत पाए जाते हैं--(1) कुमारिल भट्ट का अभिहितान्वयवाद और (2) प्रभाकर का अन्विताभिधानवाद।

(1) **अभिहितान्वयवाद**—अभिहितान्वयवादियों के मतानुसार, प्रथम अभिधा शक्ति द्वारा पद से पदार्थों का ज्ञान होता है। उसके पश्चात् वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उन पदार्थों का परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) होता है जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इसमें पहले पदार्थ अभिहित अर्थात् अभिधा शक्ति के द्वारा बोधित होते हैं और बाद में उनका परस्पर अन्वय होता है, इस कारण उसे अभिहितान्वयवाद कहते हैं।[5] इनके मत में पदार्थों का सम्बन्ध पदों से नहीं, वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है, अतः इसे तात्पर्यार्थ या वाक्यार्थ कहते हैं तथा इसका बोध कराने वाली शक्ति को 'तात्पर्याख्या' शक्ति कहते हैं। उदाहरण के लिए 'गामानय' इस वाक्य में दो पद आए हैं—'गाम्' और 'आनय'। यहाँ 'गाम' पद से सास्नादि विशिष्ट पदार्थ का बोध होता है तथा 'आनय' क्रिया से सामान्य आनयन रूप क्रिया का ज्ञान होता है। यहाँ वक्ता को अभीष्ट प्राणी विशेष का ग्रहण नहीं होता। यह विशिष्ट अर्थ तो तब प्रकट होता है जब आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के द्वारा एक पद के अर्थ के साथ दूसरे पद के अर्थ का अन्वय होता है। अतः इन दोनों पदों के सामान्य अर्थ के अभिहित होने के पश्चात् परस्पर अन्वय होने पर जो सम्बद्ध रूप विशिष्ट अर्थ बनता है, वही वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ है। इसी को **अभिहितान्वयवाद** कहते हैं।

(2) **अन्विताभिधानवाद**—इस मत के अनुसार अभिधा शक्ति के द्वारा केवल पदार्थों की ही उपस्थिति नहीं होती, बल्कि अन्वित पदार्थों की ही अभिधा से उपस्थिति होती है। अर्थात् पहले पद अन्वित होते हैं, वाद में वे विशिष्ट अर्थ का कथन करते हैं। इसीलिए इसे अन्विताभिधानवाद कहते हैं।[6] तात्पर्य यह है कि अभिहितान्वयवाद में पहले अभिधा शक्ति से पदार्थ का ज्ञान करते हैं और अन्वय के लिए 'तात्पर्याख्या' शक्ति मानते

---

5. अभिहितानां स्वस्ववृत्या पदैरूपस्थितानामर्थानामावयो भवतीति ये वदन्ति, ते अभिहितान्वयवादिनः।
6. आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्वक्षयमाण-शब्दस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थे विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति अभिहितान्वयवादिनां मतम्।

हैं, किन्तु अन्विताभिधानवाद में अभिधा शक्ति के द्वारा अन्वित पदार्थ ही उपस्थित होता है,[7] अतः उसके अन्वय के लिए 'तात्पर्याख्या शक्ति' नामक किसी पृथक् शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। अभिधा शक्ति में संकेतग्रह आवश्यक होता है तथा संकेतग्रह केवल पदार्थ में नहीं, बल्कि अन्वित पदार्थ में भी होता है। अतः अन्विताभिधानवादियों के मत में पदों से अर्थ की उपस्थिति संकेतग्रह के द्वारा होती है और संकेतग्रह का आधार 'व्यवहार' है। उदाहरण के लिए, कोई उत्तम वृद्ध मध्यम वृद्ध से 'गामानय' ऐसा कहता है। समीप में बैठा बालक 'गामानय' इस पद-समूह को सुनता है और सास्नादि से युक्त प्राणी 'गो' को लाते हुए देखता है। उसे पृथक्-पृथक् पदार्थ का ज्ञान न होने पर भी वह अखण्ड वाक्य से वाक्यार्थ को ग्रहण कर लेता है। उसके पश्चात् बालक 'गाम् बधान' 'अश्वमानय' इस वाक्य को सुनता है तो 'गाम् बधान' में आनय के स्थान पर 'बधान' और 'अश्वमानय' में अश्व के साथ 'आनय' पद को देखकर प्रवृत्ति-निवृत्ति द्वारा प्रवर्तन और निवर्तन रूप क्रिया को देखकर 'आनय' का अर्थ 'लाना' और 'बधान' का अर्थ बाँधना समझने लगता है। यही संकेतग्रह की प्रक्रिया है। इस प्रकार, संकेतग्रह अन्वित पदार्थ में ही होता है। इसी को **अन्विताभिधानवाद** कहते हैं। यही प्रभाकर गुरु का मत है।

मीमांसा-दर्शन का संक्षिप्त परिचय देने के बाद हम उसके उस पूर्व पक्ष का सारांश प्रस्तुत करते हैं जिसे आधार मानकर शंकराचार्य ने मीमांसा-मत का खण्डन प्रस्तुत किया है।

मीमांसा-सम्बन्धी पूर्वपक्ष—मीमांसा के जिन सिद्धान्तों की आलोचना ब्रह्मसूत्र भाष्य में की गई है, वे निम्न हैं। मीमांसा के दोनों सम्प्रदाय—**भाट्ट सम्प्रदाय** एवं गुरु सम्प्रदाय, अनीश्वरवादी हैं। उनके अनुसार, ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने का न तो कोई कारण हैं और न कोई प्रयोजन ही। नैयायिक इत्यादि ईश्वरवादी विशेष कर दो कार्यों के सम्पादन के लिए ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने को बाध्य होते हैं—प्रथम सृष्टि की रचना और द्वितीय वेदों की रचना। ये दोनों महत्त्वपूर्ण कार्य किसी अल्पज्ञ शक्तिहीन जीवात्मा द्वारा सम्पादित नहीं किए जा सकते। अतः, इन कार्यों के सम्पादन के लिए ईश्वर का होना नितान्त आवश्यक है।

मीमांसक ईश्वरवादियों की उपर्युक्त धारणाओं को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार सृष्टि की रचना के लिए किसी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने का कोई कारण नहीं है। सृष्टि एक प्रवाह है जो अनादि है। जो अनादि है, उसकी उत्पत्ति के लिए

---

7. पदानि अन्वितानि भूत्वा पश्चाद्विशिष्टमर्थं कथयन्तीति यो वदन्ति सोऽन्विताभिधानवादी।

किसी कारण को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार मीमांसकों के अनुसार जो नैयायिक लोग वेदों की प्रामाणिकता के लिए ईश्वर की सत्ता को आवश्यक मानते हैं, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वेद नित्य और अपौरुषेय है। जब ईश्वर की सत्ता का प्रयोजन ही नहीं है तो उसकी सत्ता में विश्वास करने का कोई कारण ही नहीं है। अतः, मीमांसकों के अनुसार वेदों में ईश्वर का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। वेद क्रियार्थक है, अर्थात् वे किसी याग करने की प्रेरणा ही देते हैं, ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध नहीं करते। अतः, "शास्त्रयोनित्वात्" सूत्र में जो ब्रह्म को श्रुति का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ठहराया गया है, वह ठीक नहीं है। ऐसी स्थिति में "तत्त्वमसि" महावाक्य में जो तत्-पदार्थ, अर्थात् ईश्वर व त्वम्-पदार्थ अर्थात् जीव के बीच तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित किया गया है, उसकी किसी न किसी विधिवाक्य के साथ एक-वाक्यता स्थापित करनी होगी, अन्यथा अक्रियार्थक होने से उसका आनर्थक्य सिद्ध होगा। इसी आनर्थक्य को बचाने के लिए ही मीमांसकों ने आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य स्थापित करने वाले वाक्यों की 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता स्थापित की है, अथवा कर्मकाण्ड में अपेक्षित कर्त्ता और देवता के प्रतिपादक रूप में जीवपरक तथा ईश्वरपरक वाक्यों की संगति बैठाने की चेष्टा की है।

यहाँ एक प्रश्न और उपस्थित होता है और वह यह है कि कर्मकाण्ड का वर्णन मुख्यतः ब्राह्मण-ग्रन्थों में पाया जाता है, उपनिषदों में कर्मकाण्ड का प्रकरण नहीं मिलता। इसी प्रकार, उपनिषदों में मुख्यतः जीव और ब्रह्म का ही प्रकरण पाया जाता है, उपनिषदों में कर्मकाण्ड के लिए तनिक भी अवकाश नहीं है। इस प्रकार कर्मकाण्ड के प्रकरण तथा जीवात्मा-परमात्मा के प्रकरण पृथक्-पृथक् हुए। ऐसी स्थिति में जीव और ब्रह्मपरक वाक्यों का कर्मकाण्ड में अपेक्षित कर्त्ता और देवता के प्रतिपादक वाक्यों के रूप में सम्बन्ध करना किसी भी प्रकार उचित नहीं ठहराया जा सकता। इस कठिनाई से बचने के लिए मीमांसकों ने एक दूसरा मार्ग अपनाया। उनके अनुसार उपनिषद्वाक्यों में दो प्रकार की उपासनाओं के प्रसंग में कर्त्ता के रूप में जीवात्मक वाक्यों और देवता के रूप में ब्रह्मपरक वाक्यों की संगति बैठानी चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि या तो कर्मकाण्ड के अंग के रूप में या उपासना के अंग के रूप में जीव और ब्रह्मपरक वाक्यों की क्रिया के साथ सम्बन्ध अवश्य जोड़ना चाहिए, अन्यथा ऐसे वाक्यों के आनर्थक्य का प्रसंग अवश्य उपस्थित हो जायगा। शंकराचार्य ने मीमांसकों के इस पूर्वपक्ष को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—

पूर्वमीमांसा के "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम्" में समस्त वेद को क्रियापरक कहा गया है, तो ऐसी अवस्था में ब्रह्म या ईश्वर को शास्त्रों का प्रतिपाद्य

विषय कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रकार क्रियापरक न होने से वेदान्त की अनर्थकता का प्रसंग उपस्थित होता है ।[8]

उपर्युक्त समस्या के समाधान के लिए मीमांसकों ने दो मार्ग अपनाया—

(1) चूँकि वेद का कोई भाग निरर्थक नहीं हो सकता, अत: कर्मकाण्ड में अपेक्षित कर्त्ता और देवता के प्रकाशक के रूप में जीवपरक तथा ईश्वरपरक वाक्यों की सार्थकता सिद्ध हो सकती है ।[9]

(2) जीवपरक एवं ईश्वरपरक वाक्यों की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए मीमांसकों ने जो दूसरा मार्ग अपनाया, वह यह है कि उपासनादि रूप किसी दूसरी क्रिया के विधान के लिए जीवपरक एवं ईश्वरपरक वाक्यों को क्रियाविधि का अंग बनाना चाहिए ।[10] परिनिष्ठित या पूर्वसिद्ध वस्तु का प्रतिपादन वेद में सम्भव है नहीं, क्योंकि वह पूर्वसिद्ध वस्तु प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से ग्रहण की जा सकती है ।[11] यदि किसी प्रकार वेदों में उसका प्रतिपादन मान लिया जाय तो विधि या निषेध किसी भी क्रिया से उसका सम्बन्ध न होने के कारण वह न हेय होगा और न उपादेय ही होगा ।[12] अत: उसे पुरुषार्थ भी नहीं कहा जा सकता है ।

(3) अर्थवाद वाक्यों के द्वारा भी सिद्धार्थ वाक्यों की क्रियापरता को सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है । विधिपरक वाक्यों की स्तुति का फल विहित कर्म में शीघ्र प्रवृत्ति के लिए और निषिद्ध कर्मों की निन्दा उनसे निवृत्ति के लिए प्रोत्साहित करने से अर्थवाद वाक्यों की सार्थकता सिद्ध होती है । अर्थवाद वाक्यों की किसी विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता होने से उनकी सार्थकता सिद्ध होती है ।[13] 'इषेत्वा' इत्यादि मन्त्रों में क्रिया या उसके साधनों का वर्णन होने से क्रिया के साथ उसका अन्वय हो जाता है । क्रिया के सम्बन्ध के बिना कहीं भी वेद-मन्त्रों की सार्थकता नहीं देखी गई है ।[14] परिनिष्ठित वस्तु (ब्रह्म) के स्वरूप में विधि सम्भव नहीं है क्योंकि विधि का सम्बन्ध केवल क्रिया से होता है ।[15]

---

8. अतो वेदान्तानामानर्थक्यम्, अक्रियार्थत्वात् ।
9. कर्तृदेवतादि प्रकाशनार्थत्वेन वा क्रियाविधि शेषत्वम् ।
10. उपासनादिक्रियान्तरविधानार्थत्वं वा ।
11. न हि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं संभवति प्रत्यक्षादिविषयत्वात्परिनिष्ठितवस्तुनः ।
12. तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते पुरुषार्थाभावात् ।
13. विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ।
14. न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेणार्थवत्ता दृष्टोपपन्ना वा ।
15. न च परिनिष्ठते वस्तुस्वरूपे विधिः सम्भवति क्रियाविषयत्वाद्विधेः ।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर मीमांसक निष्कर्ष निकालते हैं कि या तो कर्मकाण्ड में अपेक्षित कर्त्ता और देवता के स्वरूप-प्रतिपादन द्वारा उपनिषदों को क्रियाविधि का अंग मानना होगा, अथवा उपनिषद-वाक्यों में ही प्रतिपादित किसी उपासनादि कर्म का अंग स्वीकार करना होगा। अत: किसी भी स्थिति में ब्रह्म को शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय नहीं माना जा सकता। मीमांसकों का यही पूर्वपक्ष है। इसी पूर्वपक्ष का उत्तर देने के लिए महर्षि बादरायण ने "तत्तु समन्वयात्" सूत्र की रचना की है।

शंकराचार्य का उत्तर पक्ष—(1) "तत्तु समन्वयात्" में 'तु' शब्द मीमांसकों के पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए किया गया है।[16] मीमांसकों ने जो जीवपरक और ईश्वरपरक वाक्यों को कर्म में अपेक्षित कर्त्ता और देवता का बोधक माना है, वह ठीक नहीं है। यह ठीक क्यों नहीं है, इसके उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि समस्त उपनिषद् वाक्यों का समन्वय तत् (ब्रह्म) में होता है। इस प्रश्न के उत्तर में कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही वेदों का प्रतिपाद्य विषय है, यह हम कैसे स्वीकार करें? भाष्यकार कहते हैं कि सभी उपनिषद् वाक्यों की ब्रह्मपरक संगति ब्रह्म की उपनिषद्-प्रतिपाद्यता को सिद्ध करती है।[17] अपने मत की पुष्टि के लिए शंकराचार्य विभिन्न उपनिषदों से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

(i) 'हे सौम्य ! सृष्टि के प्रारम्भ में सद्भूत ब्रह्म ही विद्यमान था और वह अद्वितीय और एक ही था।'[18]

(ii) 'सृष्टि की उत्पत्ति के पहले यह अकेला आत्मा विद्यमान था।'[19]

(iii) 'यह आत्मा ब्रह्म ही सबका अनुभव करने वाला है'।[20]

(iv) 'सृष्टि के पहले यह अमृत-स्वरूप ब्रह्म ही था।'[21]

उपर्युक्त सभी उपनिषद्वाक्य एक स्वर से घोषणा करते है कि ब्रह्म ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। ब्रह्म अपूर्व है, क्योंकि उसके पहले कोई वस्तु नहीं थी, ब्रह्म अनपरम्

---

16. तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्यार्थः।
17. सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणै तस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि।
18. छान्दो०, 6/2/1, सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्।
19. ऐत० 2/1/1, आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।
20. बृह० 2/5/19, अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः।
21. मुण्ड० 2/2/11, ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्।

भी है, क्योंकि उसके बाद कोई वस्तु शेष नहीं रहती, वह अनन्तरम् भी है, क्योंकि उसके भीतर किसी विजातीय तत्त्व का अस्तित्व नहीं है, ब्रह्म अबाह्यम् भी है, क्योंकि ब्रह्म के बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।[22] उपर्युक्त वाक्यों का ब्रह्म के विषय में निश्चित रूप से समन्वय हो जाने पर किसी अन्य अर्थ की कल्पना करना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से श्रुत अर्थ की हानि और अश्रुत अर्थ की कल्पना का प्रसंग उपस्थित होगा।[23] इस प्रकार मीमांसकों ने जो जीवपरक और ब्रह्मपरक वाक्यों का कर्मकाण्ड में अपेक्षित कर्त्ता और देवता का प्रतिपादक माना है, वह भाष्यकार के अनुसार ठीक नहीं है। इस विषय में दूसरा तर्क यह है कि जब एक अद्वितीय ब्रह्म के अतिरिक्त किसी वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं है तो द्रष्टा, दृश्य और दर्शन के लिए अवकाश ही कैसे हो सकता है?[24] एक ब्रह्म के स्वीकार करने पर उसमें कर्त्ता, कर्म, करण आदि का भेद बन ही नहीं सकता।[25] इस प्रकार उपनिषद् वाक्यों को कर्त्ता देवतादि का प्रतिपादक कभी भी नहीं माना जा सकता।

(2) मीमांसकों ने अपने पूर्वपक्ष में एक बात और उठाई थी और वह यह थी कि यदि ब्रह्म को एक परिनिष्ठित वस्तु मान लिया जाय तो घट-पटादि के समान उसका ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा भी सिद्ध हो सकता है, उसके लिये वेद को प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है? इतना होने पर भी यदि वेदों को ब्रह्मपरक माना जाय तो यह भेद प्रमाणभूत न होकर अनुवादक मात्र ही होगा, क्योंकि मीमांसकों की यह मान्यता है कि अज्ञात अर्थ के ज्ञापक को ही वे प्रमाण मानते हैं।[26] इसके विपरीत, जो ज्ञात अर्थ का ज्ञापक होता है, वह प्रमाण न होकर अनुवादक मात्र ही होता है। यदि ब्रह्म परिनिष्ठित वस्तु है तो उसका ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा सम्भव हो सकता है। ऐसी स्थिति में, वेदों में ब्रह्म का प्रतिपादन प्रमाण न होकर अनुवादक मात्र ठहरेगा। अतः, मीमांसक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रह्म वेदों का प्रतिपाद्य विषय नहीं है।

उपर्युक्त आक्षेप का उत्तर देते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म के परिनिष्ठित होने से ही उसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं माना जा सकता, क्योंकि आत्मा व ब्रह्म के अभेद (तत्त्वमसि) का ज्ञान शास्त्र के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से नहीं जाना जा

---

22. तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्।
23. न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पनायुक्ता श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसंगात्।
24. बृह० 2/4/13, 'तत्केन कं पश्येत्'।
25. क्रियाकारकफल निराकरणश्रुतेः।
26. अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्।

सकता ।[27]

(3) मीमांसकों ने वेदों की ब्रह्मप्रतिपाद्यता के विरुद्ध तीसरा आक्षेप यह लगाया था कि यदि ब्रह्म के साथ किसी क्रिया का सम्बन्ध न माना जाय तो उसके हेय या उपादेय न होने से उसकी प्राप्ति को 'पुरुषार्थ' नहीं कहा जा सकता है। ब्रह्मज्ञान को 'परम पुरुषार्थ' सिद्ध करने के लिए उसे विधि-वाक्यों या निषेध-वाक्यों का अंग मानना होगा, अन्यथा उसका प्रतिपादन व्यर्थ हो जायगा।

उपर्युक्त आक्षेप का उत्तर देते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म के अहेय और अनुपादेय होने से कोई हानि नहीं है, क्योंकि ब्रह्मभाव के साक्षात्कार से ही समस्त क्लेशों का नाश होता है और 'परम पुरुषार्थ' की सिद्धि होती है।[28] अत: सिद्ध वस्तु के रूप में ब्रह्म का उपदेश निरर्थक नहीं कहा जा सकता।

(4) मीमांसकों ने उपनिषदों में आए हुए जीवपरक एवं ब्रह्मपरक वाक्यों की संगति क्रिया के साथ स्थापित करने के लिए उन्हें कर्मकाण्ड में अपेक्षित कर्त्ता और देवता का प्रतिपादक मानने का प्रस्ताव किया था। इसको अस्वीकार करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि उपनिषद्-वाक्यों में आई हुई उपासनाओं के विषय में जीवपरक एवं ब्रह्मपरक वाक्यों में कर्त्ता और देवता का प्रतिपादक माना जा सकता है, किन्तु इससे ब्रह्म को उपासना-विधि का अंग नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि ब्रह्म के एकत्व विज्ञान होने तथा हेयोपादेयता से रहित होने के कारण क्रिया-कारक के भेद-ज्ञान का नाश हो जाता है।[29] तात्पर्य यह है कि उपास्य-उपासक-भेद शेष न होने से ब्रह्म को उपासना-विधि का अंग नहीं माना जा सकता। यदि यह कहा जाय कि उपनिषद्-वाक्यों द्वारा एक बार अद्वैत ज्ञान हो जाने पर भी पुन: उपास्य और उपासक का भेद उत्पन्न हो सकता है, अत: ब्रह्म को उपासना विधि का अंग मानना ही चाहिए, इसके उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि अद्वैत ज्ञान से नष्ट हुआ भेद पुन: उत्पन्न नहीं हो सकता। अत: ब्रह्म के उपासना-विधि का अंग बनने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।[30]

(5) मीमांसकों ने उपनिषदों में सिद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन मानने में पाँचवाँ आक्षेप यह

---

27. ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगमम्यमानत्वात् ।
28. हेयोपादेयशून्यब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात्पुरुषार्थ सिद्धेः ।
29. न तु तथा ब्रह्मण उपासनाविधिशेषत्वं संभवति, एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रिया-कारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेः ।
30. न ह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति, येनोपासनाविधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्येत ।

लगाया था कि ब्राह्मण ग्रन्थों में विधि-वाक्य के साथ सम्बन्ध किए बिना वेद-वाक्यों की सार्थकता सिद्ध नहीं की जा सकती। अतः, उपनिषद्वाक्यों में भी विधिसंस्पर्श के बिना सिद्ध वस्तु ब्रह्म का प्रतिपादन संगत नहीं कहा जा सकता। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि यद्यपि कर्मकाण्ड के प्रकरण में विधिसंस्पर्श के बिना सिद्ध वस्तु की अर्थवत्ता नहीं देखी जा सकती तो भी आत्मज्ञान की समाप्ति मोक्षप्राप्ति में ही होती है, इसलिए उसका प्रतिपादन करने वाले शास्त्र की प्रामाणिकता को चुनौती नहीं दी जा सकती।[31]

शास्त्रों की प्रामाणिकता अनुमान का भी विषय नहीं है जिससे कर्मकाण्ड के प्रकरण में पाए जाने वाले किसी उदाहरण की आवश्यकता पड़े। तात्पर्य यह है कि यदि शास्त्रों की प्रामाणिकता अनुमान द्वारा सिद्ध की जा सकती तो उसकी सिद्धि के लिए अनुमान के पाँचों अवयवों के अनुरूप दृष्टान्त की आवश्यकता पड़ती। पर वेद का प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है, अतः इसकी सिद्धि के लिए किसी दृष्टान्त की कोई आवश्यकता नहीं है।[32] उपर्युक्त सभी तर्कों के आधार पर यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म ही शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय है।[33]

क्या ब्रह्म को उपासना-विधि का अंग बनाया जा सकता है ?

हम पहले ही देख चुके हैं कि वेदों में जो जीवपरक व ईश्वरपरक वाक्य हैं, उन्हें कर्मकाण्ड में अपेक्षित कर्त्ता एवं देवतापरक वाक्यों के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार, शंकराचार्य ने अपने पुष्ट तर्कों द्वारा मीमांसाशास्त्र का खण्डन प्रस्तुत किया। पर अभी ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए पूरे कर्मशास्त्र का खण्डन नहीं हुआ। शंकराचार्य ने भक्तिमार्ग को भी कर्ममार्ग के अंग के रूप में ही स्वीकार किया है। अतः मीमांसकों के कर्ममार्ग का खण्डन करने से ही ज्ञानमार्ग की पूरी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। ज्ञानमार्ग की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए कर्ममार्ग के साथ भक्तिमार्ग का खण्डन करना भी उतना ही आवश्यक है। अब, शंकराचार्य भक्ति मार्ग का खण्डन करते हैं।

शंकराचार्य के पूर्व आचार्य बोधायन, उपवर्ष इत्यादि वृत्तिकार भक्तिमार्गी थे जो श्रवण (श्रुति), मनन (तर्क) एवं निदिध्यासन (उपासना) तीनों को ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए आवश्यक मानते थे। किसी वस्तु का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने में हमारे समक्ष तीन प्रकार

31. यद्यप्यन्यत्र वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं न दृष्टं, तथाप्यात्म-विज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम्।
32. न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यं, येनान्यत्र दृष्टं निदर्शनमपेक्षेत।
33. तस्मात्सिद्धं शास्त्रप्रमाणकत्वं।

की बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं— (1) असम्भावना, (2) विपरीत भावना और (3) पारोक्ष्य । असम्भावना के निवारण के लिए श्रवण की आवश्यकता होती है, विपरीत भावना के निवारण के लिए मनन (तर्क) की आवश्यकता होती है तथा पारोक्ष्य के निवारण के लिए निदिध्यासन की आवश्यकता होती है। इसीलिए आत्म-दर्शन के साधन-रूप में श्रवण, मनन और निदिध्यासन, इन तीनों साधनों का निर्देश 'श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः' इत्यादि वाक्य के द्वारा किया गया है। इनसे क्रमशः असम्भावना, विपरीत भावना व पारोक्ष्य दोषों की निवृत्ति होकर आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ति होती है। एक बार जब मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार की प्राति हो गई, उसके बाद मनन व निदिध्यासन की कोई आवश्यकता शेष नहीं रह जाती। यह शंकराचार्य का मत है। इसके विपरीत, बोधायन और उपवर्ष के अनुसार केवल शब्द-प्रमाण से साक्षात्कारात्मक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। शब्द से केवल परोक्ष ज्ञान ही होता है, इसलिए शब्द-प्रमाण से ब्रह्मज्ञान होने के बाद भी उसकी परोक्षता को दूर करने के लिए निदिध्यासन की आवश्यकता होती है। अतः वृत्तिकार व भाष्यकार के मतों में जो अन्तर है, उसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि वृत्तिकार के अनुसार, शब्द-प्रमाण द्वारा ब्रह्मज्ञान हो जाने पर उसकी परोक्षता को दूर करने के लिए उपासना की आवश्यकता होती है, पर शंकराचार्य के अनुसार, यदि शब्द-प्रमाण के द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो गई तो पुनः निदिध्यासन या उपासना की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी मत की प्रतिष्ठा के लिए शंकराचार्य ने वृत्तिकारों के मत का खण्डन प्रस्तुत किया है। पर इसका खण्डन प्रस्तुत करने के पहले वे वृत्तिकारों की बातों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

पूर्वपक्ष—वृत्तिकार वेदान्ती कहते हैं कि यद्यपि शास्त्रों में ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है, तथापि वह उपासना विधि के अंग के रूप में ही किया गया है।[34] जिस प्रकार कर्मकाण्ड में अलौकिक 'पूप' (स्तम्भ) और आहवनीय (यज्ञाग्नि) विधि के अंग के रूप में ही शास्त्र द्वारा प्रतिपादित किए जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म का प्रतिपादन भी उपासना-विधि के अंग रूप में ही किया जाता है।

दूसरा प्रश्न जो वृत्तिकारों ने ब्रह्म-प्रतिपाद्यता के विरुद्ध प्रस्तुत किया है, वह यह है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति कराना ही शास्त्र का प्रयोजन है,[35] क्योंकि शासन करने से ही शास्त्र की सार्थकता सिद्ध होती है।[36] क्रियारहित केवल सिद्ध ब्रह्म को मुख्य प्रतिपाद्य विषय मानने

---

34. यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म तथापि प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यतिः।
35. प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वाच्छास्त्रस्य।
36. शासनात् शंसनात् शास्त्रं।

से तो उपनिषदों का शास्त्रत्व ही नष्ट हो जायगा। अतः ब्रह्म का उपासना-विधि के अंगरूप में ही उपनिषदों में प्रतिपादन किया गया है। अपने मत की पुष्टि के लिए वृत्तिकार मीमांसा सूत्र से कुछ उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। 'उस वेद का प्रयोजन कर्मकाण्ड का बोध कराना ही है।'[37] यदि सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन कहीं वेद में मिलता है तो 'सिद्ध वस्तुओं का प्रतिपादन किसी क्रिया के ही निमित्त होता है।'[38] इसलिए पुरुष को किसी कर्मविशेष में प्रवृत्त कराने वाला अथवा किसी कर्मविशेष से निवृत्त कराने वाला शास्त्र कहलाता है। अतः ब्रह्मसहित समस्त सिद्ध वस्तुओं के प्रतिपादन कराने वाले वाक्यों का उपयोग विधि या निषेध के अंगरूप में ही हो सकता है। इसी प्रकार, वेदान्त की सार्थकता भी विधि के अंगरूप मानकर ही हो सकती है। जिस प्रकार मीमांसाशास्त्र में स्वर्ग-प्राप्ति की कामना करने वाले के लिए यागादि का विधान किया गया है, उसी प्रकार अमृतत्व (मोक्ष) को चाहने के लिए उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान का विधान किया गया है। इस प्रकार ब्रह्म को उपासना-विधि का अंग मानना ठीक ही है।

उपनिषदों में उपासना-विधि के अंगरूप में ही ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है, इसके लिए दृष्टान्त भी दिए जा सकते हैं। 'अरे! इस आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए।'[39] जो आत्मा समस्त दोषों से रहित है, उसकी खोज करनी चाहिए और उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए।[40] 'आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए।'[41] 'लोक की आत्मा रूप में ही उपासना करनी चाहिए।'[42] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि उपनिषदों में ब्रह्म को उपासना-विधि के अंग के रूप में ही स्वीकार किया गया है। उस ब्रह्म की उपासना से शास्त्र में प्रतिपादित अदृष्ट मोक्षरूप फल की प्राप्ति होती है।[43] ब्रह्म के साथ कर्त्तव्य-विधि का सम्बन्ध जोड़े बिना केवल वस्तुमात्र के कथन करने से उसके हेय और उपादेय न बन सकने के कारण उपनिषद् वाक्यों की निरर्थकता सिद्ध होगी।[44] अतः उपनिषदों में केवल ब्रह्म का प्रतिपादन न मानकर उपासना-विधि के अंगरूप में ही ब्रह्म का प्रतिपादन

---

37. जै० सू०, 1/1/5, दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्।
38. वही, 1/1/25, तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः।
39. बृह० 2/4/5, आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।
40. छान्दो० 8/7/1, य आत्माऽपहतपाप्मा-सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः।
41. बृह० 1/4/7, आत्मेत्येवोपासीत।
42. वही, 1/4/15, आत्मानमेव लोकमुपासीत।
43. तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टो मोक्षः फलं भविष्यतीति।
44. कर्त्तव्यविध्यननुप्रवेशे वस्तुमात्रकथने हानोपादानासंभवात्।

मानना चाहिए।

ब्रह्म को उपासना-विधि के अंगरूप मानने के लिए वृत्तिकार एक तीसरा कारण भी प्रस्तुत करते हैं। ब्रह्मस्वरूप के श्रवणमात्र से सांसारिकता की भ्रान्ति दूर नहीं हो जाती। इसीलिए 'श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्य:' में श्रवण और मनन के बाद निदिध्यासन या उपासना का विधान पाया जाता है। अत: वेदों में 'प्रतिपत्ति विधि के अंगरूप में ही ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है।'[45] ऐसा वृत्तिकार का मत है।

वृत्तिकारों ने जो ऊपर ब्रह्म को उपासना-विधि के अंग के रूप में प्रस्तुत किया, उसका कारण यह है कि उनके अनुसार मीमांसा-दर्शन और वेदान्त-दर्शन दोनों की स्थिति बिलकुल समान है। अत: यदि कोई वृत्तिकारों की स्थिति का खण्डन करना चाहता है तो उसे सर्वप्रथम यह दिखाना होगा कि मीमांसा दर्शन और वेदान्त-दर्शन की स्थिति में समानता न होकर विलक्षणता पाई जाती है। शंकराचार्य ने आगे इसी विलक्षणता को दिखाने का प्रयत्न किया है।

उत्तर पक्ष—शंकराचार्य कहते हैं कि कर्मविद्या और ब्रह्मविद्या की स्थिति समान नहीं है, क्योंकि कर्मविद्या और ब्रह्मविद्या के फल भिन्न-भिन्न हैं।[46]

कर्मविद्या-फल—(1) कर्मविद्या का फल सुखदु:खादि ज्ञानवान् व्यक्ति ब्रह्मा से लेकर स्थावर योनि तक शरीर, वाणी व मन के द्वारा भोगे जाते हैं, किन्तु ब्रह्मविद्या के फलस्वरूप मोक्ष का शरीरादि से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

(2) मनुष्य से लेकर ब्रह्मादि पर्यन्त देहधारी प्राणियों में सुख का तारतम्य पाया जाता है, अत: उसके कारणभूत कर्म के तारतम्य का भी अनुमान किया जा सकता है।[47] पर ब्रह्मविद्या के फलस्वरूप मोक्ष में किसी प्रकार का तारतम्य नहीं है।

(3) फल में तारतम्य होने के कारण कर्मविद्या के अधिकारियों में भी तारतम्य सिद्ध होता है।[48] उदाहरण के लिए कुछ कर्मों का अधिकारी केवल ब्राह्मण ही होता है तथा राजसूयादि कर्मों का अधिकारी राजा ही हो सकता है। यह भी कहा जाता है कि यज्ञादि का अनुष्ठान करने वाले विद्या तथा समाधि के बाद मरने पर उत्तर मार्ग में गमन करते हैं और केवल आपूर्त्य अर्थात् वापीकूपतड़गादि का निर्माण तथा दान आदि कर्मों का

---

45. तस्मात् प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यमिति।
46. कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्।
47. मनुष्यत्वादारम्भ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते।
ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्य तारतम्यं गम्यते।
48. धर्मतारतम्यादधिकारितारतम्यम्।

अनुष्ठान करने वाले धूमादि क्रम से दक्षिण मार्ग को गमन करते हैं। ये उत्तर मार्ग और दक्षिण मार्ग को गमन करने वाले अधिकारी अपने कर्मसंस्कारानुसार वहाँ निश्चित काल तक रहकर पुन: उसी मार्ग से इस लोक में वापस आ जाते हैं।[49] पर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने पर कोई भी व्यक्ति पुन: इस संसार में लौटकर कभी नहीं आता। इस प्रकार अविद्यादि दोष से युक्त प्राणियों में शरीरधारणपूर्वक संसाररूप अनित्य धर्माधर्म के तारतम्य के कारण उत्पन्न होने वाला सुख-दु:ख का तारतम्य श्रुति, स्मृति और तर्क के द्वारा सिद्ध होता है।[50] श्रुति भी कहती है, 'शरीर रहते हुए सुख और दु:ख का नाश नहीं हो सकता है।'[51] तथा शरीर के बन्धन से रहित हो जाने पर सुख-दु:ख का संस्पर्श भी नहीं होता है।[52] उपर्युक्त श्रुतियाँ इस बात को घोषित करती हैं कि कर्मविद्या हमें सदा बन्धन व जन्म-मरण के चक्र की ओर ही ले जाती है। अत: ब्रह्मविद्या और कर्मविद्या की स्थिति समान नहीं कही जा सकती, जैसा वृत्तिकार मानते हैं।

(4) यदि वृत्तिकार यह कहें कि श्रुति में प्रतिपादित अशरीरावस्था ही धर्म का कार्य है, तो इसके विरुद्ध शंकराचार्य कहते हैं कि यह ठीक नहीं है, क्योंकि अशरीरावस्थारूप मोक्ष स्वाभाविक होता है। स्वाभाविक होने से वह धर्मजन्य नहीं हो सकता। श्रुतियाँ कहती है, 'शरीरों के भीतर रहने पर भी स्वयं शरीररहित, अनित्य पदार्थों में रहने पर भी नित्य, सर्वव्यापक, महान् आत्मा को जानकर विद्वान् पुरुष दु:ख से मुक्त हो जाता है।'[53] 'वह परमात्मा प्राण-व्यापार और मन के सम्पर्क से रहित तथा शुभ्र है।'[54] 'यह पुरुष असंग है।'[55] उपर्युक्त श्रुतियाँ यह सिद्ध करती हैं कि कर्मों के फल से भिन्न मोक्ष नामक अशरीरावस्था नित्य है।

(5) यदि श्रवण, मनन, निदिध्यासन के बाद ब्रह्म की प्राप्ति कही जाय, तो ठीक नहीं क्योंकि ये सब ज्ञान के साधन हैं, साध्य नहीं। ज्ञान के बाद निदिध्यासन की कोई आवश्यकता नहीं रहती।[56]

---

49. छान्दो०, 5/10/5, 'यावत्संपातमुषित्वा'।
50. एवमविद्यादिदोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुख-दु:ख तारतम्यमनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्।
51. छान्दो०, 8/12/1, न ह वै सशरीरस्य सत:, प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।
52. छान्दो०, 8/12/1, अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत:।
53. कठ०, 1/2/21, अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।
54. मुण्ड०, 2/1/2, अप्राणोह्यमना: शुभ्र:।.
55. बृह०, 4/3/15, असङ्गो ह्यं पुरुष:।
56. तस्मान्न प्रतिपत्ति विधि विषयतयाशास्त्र प्रमाणकत्वं ब्रह्मण: सम्भवति।

ब्रह्मविद्याफल—ऊपर प्रदर्शित किया गया कि कर्मविद्या का फल अनित्य है। पर ब्रह्मविद्या का फल नित्य है। अब प्रश्न यह है कि "नित्यता" से यहाँ हमारा क्या तात्पर्य है ? नित्यता दो प्रकार की होती है, प्रथम परिणामि नित्यता और द्वितीय कूटस्थ नित्यता। उनमें से कुछ वस्तुएँ जिनमें रूप-परिवर्तन हो जाने पर भी यह वही है, इस प्रकार के ज्ञान में बाधा नहीं पड़ती है, वे **परिणामि नित्य** कहलाती है।[57] उदाहरण के लिए, सांख्य की त्रिगुणात्मक प्रकृति परिणामि नित्य है, क्योंकि त्रिगुणात्मक प्रकृति के स्वरूप में नानाविध परिवर्तन होने पर भी यह जगत् प्रकृतिजन्य है, इस बुद्धि में बाधा नहीं पड़ती।

किन्तु यह मोक्षब्रह्म पारमार्थिक, कूटस्थनित्य, आकाश के समान सर्वव्यापक, सम्पूर्ण विकारों से रहित, नित्यतृप्त, निरवयव और परमप्रकाशरूप है।[58] वहाँ धर्म, अधर्म कार्य की तीनों कालों में भी कोई गति नहीं है।[59] मोक्ष धर्म के सम्बन्ध से रहित, अधर्म के सम्बन्ध से रहित तथा पुण्य-पाप के सम्बन्ध से रहित एवं भूत-भव्य से रहित है।[60] यह वही ब्रह्म है जिसकी जिज्ञासा "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" से प्रारम्भ की गई हैं।

उपर्युक्त सभी तर्कों से सिद्ध होता है कि पूर्वमीमांसा की शैली के आधार पर उपनिषदों की व्याख्या करना ठीक नहीं है। अतः, वृत्तिकार बोधायन और उपवर्ष ने जो उपासना विधि के अंग के रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन किया था, वह शंकराचार्य के मत से उचित नहीं है। वे उपनिषदों का न कर्मकांड से सम्बन्ध मानते हैं और न उपासना-कांड से। ब्रह्म ही उनका एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है।

क्या ब्रह्म को क्रियाविधि का अंग माना जा सकता है ?

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि ब्रह्म को उपासना-विधि का अंग नहीं बनाया जा सकता तो क्या उसे क्रियाविधि का अंग बनाया जा सकता है ? शंकराचार्य इस मत से भी बिलकुल सहमत नहीं है। इसका खंडन करने के लिए वे निम्न प्रबल तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(1) यदि ब्रह्म को क्रियाविधि के अंग के रूप में स्वीकार किया जाय और उस क्रिया

---

57. तत्र किंचित्परिणामि नित्यं यस्मिन्विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिर्न विहन्यते।
58. इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थ नित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयं, स्वयंज्योतिः स्वभावम्।
59. यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते।
60. कठ०, 2/14, अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च।

के द्वारा मोक्ष की उत्पत्ति कही जाय तो मोक्ष अनित्य हो जायगा।[61] ऐसी स्थिति में तारतम्य से युक्त अनित्य कर्मफलों के भीतर ही किसी विशेष अवस्था को मोक्ष का नाम देना होगा।[62] पर मोक्ष को मानने वाले सभी मत मोक्ष को नित्य मानते हैं। अतः, ब्रह्म के उपदेश को क्रियाविधि के अंगरूप में मानना ठीक नहीं है।

(2) शंकराचार्य के अनुसार, ब्रह्मज्ञान के बाद मोक्ष-प्राप्ति के लिए किसी क्रिया की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष है। ब्रह्मज्ञान के बाद मोक्ष-प्राप्ति के लिए न किसी धर्मादि के अनुष्ठान की आवश्यकता है और न किसी प्रकार की उपासना का ही कोई प्रयोजन है। इसी बात को वे श्रुतियों का उद्धरण देकर सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं— 'ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला स्वयं ब्रह्मरूप ही हो जाता है।'[63] उस अनादि अनन्त ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर साधक के सारे कर्म-संस्कार नष्ट हो जाते हैं।[64] ब्रह्म के आनन्द स्वरूप का साक्षात्कार करने वाला किसी से भयभीत नहीं होता है।[65] 'उसने अपने को ब्रह्म-स्वरूप समझ लिया, अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ, इस बात का अनुभव कर लिया। इसलिए वह सर्वात्मक बन गया।'[66] 'जीव और ब्रह्म के एकत्व का अनुभव करने वाले को वहाँ शोक और मोह कैसे रह सकते हैं।'[67] ये सभी श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञान के बाद ही मोक्षप्राप्ति को दिखाकर ब्रह्मज्ञान और मोक्ष प्राप्ति के बीच किसी प्रकार कर्मकाण्ड या उपासनादिरूप क्रिया का खण्डन करती है।[68] इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए शंकराचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार "तिष्ठन्गायति" में खड़े होने और गाए जाने के बीच किसी अन्य क्रिया का निषेध प्रकट होता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान और मोक्ष-प्राप्ति के बीच किसी कर्मकाण्ड या उपासनादि क्रियाओं की कोई आवश्यकता नहीं होती।[69]

(3) ज्यों ही साधक को ब्रह्मज्ञान होता है, मोक्षप्रतिबन्धक अज्ञान की निवृत्ति होकर उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। उसके लिए किसी कर्म या उपासना करने की आवश्यकता नहीं होती। इसी को शंकराचार्य कुछ उपनिषद्वाक्यों एवं न्यायसूत्रों का उद्धरण देकर समझाने की चेष्टा करते हैं—'आप हमारे पिता हैं जो ब्रह्मज्ञान के द्वारा हमें

61. कर्त्तव्येन साध्यश्चेन्मोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्येव स्यात्।
62. यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेष्वनित्येषु कश्चिदतिशयो मोक्ष इति प्रसज्येत्।
63. मुण्ड० 3/2/9, ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।
64. वही, 2/2/8, क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।
65. तैति० 2/9, आनन्दं ब्रह्मणों विद्वान् न विभेति कुतश्चन।
66. वाजसनेयि ब्राह्मणोप०, 1/4/10, तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मातत् सर्वमभवत्।
67. ईश० 7, तत्र को मोहः को शोकः एकत्वमनुपश्यतः।
68. इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति।
69. यथा तिष्ठन् गायतीति तिष्ठति गायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं कार्यान्तरं नास्तीति गम्यते।

अविद्या के पार उतारते हैं।'[70] 'जिसने अपने कषायों को दूर कर दिया है, ऐसे नारद मुनि को भगवान् सनत्कुमार अज्ञान के पार पहुँचाते हैं।'[71] ये सभी श्रुतियाँ मोक्ष के प्रतिबन्धक अज्ञान की निवृत्तिमात्र को आत्मज्ञान का फल बताती है।[72] अज्ञान की निवृत्ति ही आत्मज्ञान का फल है, इस बात के समर्थन के लिए शंकराचार्य आगे गौतम के न्यायसूत्र का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। 'दु:ख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान के आत्मज्ञान द्वारा अन्तिम-अन्तिम का नाश होने से उसके पूर्ववर्ती का नाश होकर अपवर्ग की प्राप्ति होती है।'[73] अर्थात् मिथ्याज्ञान के नाश से दोषों का नाश, दोषों का नाश होने से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति का नाश होने से जन्म का नाश तथा जन्म का नाश होने पर दु:खों का नाश हो जाता है जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मिथ्याज्ञान का नाश कैसे होता है? इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि मिथ्याज्ञान का नाश जीव और ब्रह्म के अभेदज्ञान से होता है।[74] आत्मज्ञान से ही मिथ्याज्ञान का नाश होता है और वही अपवर्ग का कारण भी है। बीच में आए जन्म, प्रवृत्ति, दोष इत्यादि मोक्ष के प्रतिबन्धक हैं। उन प्रतिबन्धों की निवृत्ति ही आत्मज्ञान का फल है।

(4) पहले सिद्ध किया गया कि ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। शंकराचार्य ने जीव और ईश्वर के अभेद या अद्वैत-ज्ञान से मिथ्याज्ञान के परिहार की बात की है। 'तत्त्वमसि' एक ऐसा वाक्य है जो जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करता है। पर वृत्तिकार जीव और ब्रह्म की पूर्ण एकता में विश्वास नहीं करते, क्योंकि ऐसा मानने से उनके भक्तिमार्ग में बाधा पहुँचेगी। वृत्तिकार 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यों को मुख्यार्थक न मानकर 'सम्पद्रूप' या 'अध्यासरूप' मानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जीव और ब्रह्म का अभेद वास्तविक न होकर केवल गौण ही है। उदाहरण के लिए, जब यह कहा जाता है कि 'मन की ब्रह्म रूप में उपासना करे'[75] अथवा 'आदित्य की ब्रह्मरूप में उपासना करे'[76] तो इसका यह तात्पर्य नहीं होता कि मन और ब्रह्म अथवा आदित्य और ब्रह्म के बीच अभेद सम्बन्ध है। यह

70. प्र० 6/8, त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि।
71. छान्दो० 7/26/2, तस्मै मृदितकषायाय तमसः परं पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः।
72. इति चैवमाद्याः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति।
73. न्यायसूत्र, 1/1/2, दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।
74. मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति।
75. छान्दो० 3/18/1, मनो ब्रह्म इत्युपासीत।
76. वही, 4/3/1, आदित्यो ब्रह्म इत्यादेशः।

अभेद केवल **आरोपित अभेद** है जो प्रतीकोपासना की उपयोगिता की दृष्टि से कहा जाता है। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म का अभेद प्रतिपादन करने वाले जितने उपनिषद्-वाक्य हैं, वे जीव और ब्रह्म के **पूर्ण अभेद** का प्रतिपादन न कर केवल आरोपित अभेद का ही प्रतिपादन करते हैं जिससे कि प्रतीकोपासना सम्भव हो सके। ऐसा पूर्व पक्ष अथवा वृत्तिकार का मत है। यह आरोपित अभेद तीन प्रकार का हो सकता है—

(i) **सम्पद्रूप अभेद**—जिस अभेद में आरोप्य की प्रधानता होती है, उसे सम्पद्रूए अभेद कहा जाता है।[77] उदाहरण के लिए, जब श्रुति कहती है कि 'मन की ब्रह्मरूप में उपासना करे' तो इसमें मन के ऊपर ब्रह्म का आरोप किया गया है और यहाँ आरोप्यमाण ब्रह्म की प्रधानता है। यह सम्पद्रूप आरोप है।

(ii) **अध्यासरूप अभेद**—जिस आरोपित अभेद में अधिष्ठान की प्रधानता होती है, उसे अध्यासरूप अभेद कहा जाता है।[78] उदाहरण के लिए, जब श्रुति कहती है कि 'आदित्य की ब्रह्मरूप में उपासना करे' तो इसमें यद्यपि आदित्य के ऊपर ब्रह्म का आरोप किया गया है, किन्तु इसमें आरोप्य ब्रह्म की अपेक्षा अधिष्ठान आदित्य की प्रधानता का प्रतिपादन है। इसलिए इसे अध्यासरूप आरोप कहते हैं।

(iii) **विशिष्टक्रियायोग निमित्तक व्यवहाररूप अभेद**—जिसमें किसी वस्तु के ऊपर 'संवर्ग' का आरोप किया जाता है, उसे विशिष्टक्रियायोग निमित्तक आरोप कहते हैं। उदाहरण के लिए, जब श्रुति कहती है कि 'वायु संवर्ग है, प्राण संवर्ग है'[79] तो इसमें वायु अथवा प्राण के ऊपर संवर्ग का आरोपण किया गया है। संवर्जन **(संग्रहण)** रूप विशिष्ट क्रिया के योग के आधार पर प्रलय-काल में जिसमें सभी पदार्थों का विलय होता है, उसे संवर्ग कहते हैं। संवर्जन या संग्रहण रूप विशिष्ट क्रिया करने वाला होने के कारण वायु को संवर्ग से अभिन्न कहा गया है। अतः, यह व्यवहार 'विशिष्टक्रियायोग निमित्तक व्यवहार' है।

वृत्तिकारों ने तीन प्रकार के आरोप के आधार पर तीन प्रकार के भेद सम्बन्ध की स्थापना की है। पर उपर्युक्त सभी अभेद आरोपित अभेदमात्र हैं, वास्तविक अभेद नहीं है। इसी प्रकार, उनके अनुसार उपनिषदों में जो जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन मिलता है, वह वास्तविक अभेद न होकर आरोपित अभेद ही है जो उपासना की सुविधा के लिए स्थापित किया गया है। आरोपित अभेद सदा भक्ति-मार्ग का द्योतक है। उपासन

---

77. आरोप्यप्रधानासम्पत्।
78. अधिष्ठानप्रधानोऽध्यासः।
79. छान्दो० 4/3/1, वायुर्वाव संवर्गः प्राणो वाव संवर्गः।

भी एक प्रकार की क्रिया ही है। अतः ब्रह्म क्रियाविधि का ही एक अंग है। अब शंकराचार्य वृत्तिकारों द्वारा प्रतिपादित जीव और ब्रह्म के वास्तविक भेद का खण्डन प्रस्तुत करते हैं—

(i) उपनिषदों में प्रतिपादित जीव तथा ब्रह्म का अभेदज्ञान संपद्रूप नहीं है, क्योंकि इसे संपद्रूप मानने पर निम्न तीन प्रकार के दोष उत्पन्न होंगे—

प्रथम दोष यह है कि 'तत्त्वमसि'[80], 'अहं ब्रह्मास्मि'[81], 'अयमात्मा ब्रह्म'[82] इत्यादि अभेदप्रतिपादक वाक्यों का अर्थ करने में खींचातानी करनी होगी।[83]

द्वितीय दोष यह है कि 'उस अनादि अनन्त ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर हृदय की ग्रन्थि स्वयं खुल जाती है और सारे संशय स्वयं नष्ट हो जाते हैं'[84] इत्यादि वाक्यों में आत्मज्ञान का फल जो अविद्या की निवृत्तिरूप बताया गया है, वह बाधित हो जायगा, क्योंकि उपासनामार्गियों के सिद्धान्त को मानने पर आत्मज्ञान का फल अविद्यानिवृत्ति के बजाय उपासना ठहरेगा।[85]

तृतीय दोष यह है कि 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मरूप ही हो जाता है'।[86] इस प्रकार ब्रह्मरूपता-प्राप्ति के वचन सम्पदादिपक्ष में ठीक प्रकार से संगत नहीं हो सकेंगे। अतः, जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन सम्पदादि रूप कभी नहीं हो सकता। ब्रह्मविद्या पुरुष-व्यापार के अधीन नहीं है;[87] वह प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्रतीत होने वाली वस्तु के ज्ञान के समान 'वस्तुतन्त्र' है।[88]

(ii) यदि जीव तथा ब्रह्म का अभेदज्ञान संपद्रूप नहीं है तो वह '**अध्यासरूप भी नहीं**' है। जैसे, 'मन की ब्रह्मरूप में उपासना करे'[89], 'आदित्य ब्रह्मरूप है, यह उपदेश है'[90] इत्यादि वाक्यों में जो मन तथा आदित्य आदि में ब्रह्मदृष्टि कही गई है, वह अध्यासरूप है।

---

80. छान्दो० 6/8/7, तत्त्वमसि।
81. बृहदा० 1/4/10, अहं ब्रह्मास्मि।
82. वही, 2/5/19, अयमात्मा ब्रह्म।
83. ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येत।
84. मुण्ड० 2/2/8, भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
85. इति चैवमादीन्यविद्यानिवृत्तिफलश्रवणान्युपरुध्येरन्।
86. मुण्ड० 3/2/9, ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।
87. अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या।
88. प्रत्यक्षादि प्रमाणविषयवस्तुज्ञानवद्वस्तुतन्त्रा।
89. छान्दो० 3/18/1, मनोब्रह्मेत्युपासीत।
90. वही, 3/19/1, आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः।

पर तत्त्वमसि आदि वाक्यों में इस प्रकार का अध्यासमूलक अभेद व्यवहार भी नहीं है ।

(iii) और 'न वायु संवर्ग है'[91], 'प्राण संवर्ग है'[92] इत्यादि के समान ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान विशिष्टक्रियायोग निमित्तक व्यवहार ही है । वृत्तिकारों का कथन है कि उपनिषदों में जहाँ जीवात्मा के लिए **'ब्रह्म'** शब्द का प्रयोग हुआ है, वह **'ब्रीहि वृद्धौ'** धातु के योग से इन्द्रियादि अपने आश्रित पदार्थों से बड़ा होने के कारण 'विशिष्टक्रियायोग निमित्तक व्यवहार' का उदाहरण है । पर शंकराचार्य इस व्याख्या को स्वीकार नहीं करते । आत्मा स्वयं चेतन-स्वरूप है और वह व्यापक है जिसमें किसी प्रकार की क्रिया सम्भव नहीं है ।

(iv) ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान **आज्यावेक्षणकर्मवत् कर्माङ्गसंस्काररूप** भी नहीं है । **'दर्शपौर्णमास याग'** के प्रसंग में **'पत्नी आज्यमवेक्षेत'** इस प्रकार का एक विधि-वाक्य मिलता है जिसका अर्थ यह है कि 'यजमान की पत्नी याग में प्रयुक्त होने वाले घृत को देखे ।' यहाँ पत्नी द्वारा घृत के देखे जाने का जो विधान किया गया है, उसका प्रयोजन यह है कि यदि घृत में कोई कूड़ा-करकट पड़ गया हो तो उसका परिहार कर घृत को पूर्ण शुद्ध और सुसंस्कृत कर लिया जाय । इस प्रकार आज्यावेक्षणरूप कर्म का फल यज्ञ के उपयोगी घृत का संस्कार करना है । इसी प्रकार उपनिषदों में जो जीव और ब्रह्म की अभेद बुद्धि से दर्शन का विधान पाया जाता है, वह उपासनारूप कर्म के अंगभूत जीवात्मा के संस्कार के लिए किया गया है । यह वृत्तिकार का तात्पर्य है । पर शंकराचार्य उपनिषद्वाक्यों की इस व्याख्या को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उपासना-मार्ग को मानने पर आत्मज्ञान के बाद भी उपास्य-उपासक का भेद बना रहेगा और जीवात्मा को ब्रह्मरूपता की प्राप्ति नहीं हो सकेगी । ऐसा होने पर ब्रह्मवादियों की **'तद्भावापत्ति'** का समन्वय भी नहीं बन पाएगा । अतः वृत्तिकारों का यह कथन कि उपर्युक्त तीनों प्रकार के आरोपित अभेदों का प्रमुख प्रयोजन जीवात्मा का संस्कार करना है, ठीक नहीं है ।

(5) ऊपर निवेदन किया गया कि ब्रह्मज्ञान पुरुष-व्यापार के अधीन नहीं है, अपितु वस्तुतन्त्र है । ऊपर जो सम्पदादिरूप ज्ञान कहे गए हैं, वे सब वस्तुतन्त्र नहीं, वरन् पुरुष-व्यापारतन्त्र हैं । 'मनो ब्रह्मइत्युपासीत्' इत्यादि जिन ज्ञानों की चर्चा सम्पदादि रूप में पहले की गई है, वे सब वस्तुतन्त्र न होकर पुरुषतन्त्र ही हैं । मन को मन समझना तथा आदित्य को आदित्य समझना वस्तुतन्त्र और यथार्थ ज्ञान है, किन्तु मन को ब्रह्म समझना

---

91. वही, 4/3/1, वायुर्वाव संवर्गः ।
92. वही, प्राणो वाव संवर्गः ।

अथवा आदित्य को ब्रह्म समझना पुरुषतन्त्र ही कहा जायगा। शंकराचार्य का यहाँ कथन है कि ब्रह्मज्ञान के साथ किसी प्रकार की क्रिया का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। यहाँ तक कि **ब्रह्म विदिक्रिया का भी कर्म नहीं माना जा सकता**[93], क्योंकि श्रुति कहती है कि 'वह ब्रह्म-विदित विदिक्रिया के कर्मरूप वेद्य पदार्थों से भी भिन्न है और अविदित पदार्थों से भी भिन्न है'।[94] पुनः, दूसरी श्रुति कहती है, जिस ब्रह्म से सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है, उस ब्रह्म को किस साधन से जान सकते हो ?[95] ये सभी वाक्य ब्रह्म की विदिक्रिया-कर्मता का निषेध करते हैं।[96]

(6) उपासनाक्रिया के कर्मरूप में भी ब्रह्म के साथ क्रिया का सम्बन्ध नहीं हो सकता।[97] श्रुति कहती है, 'जिसका वाणी वर्णन नहीं कर सकती है तथा जिसके द्वारा वाणी अपने स्वरूप को प्राप्त करती है'[98], वह ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्म की क्रिया की विषयता का निषेध करके श्रुति पुनः कहती है, 'उसी को तुम ब्रह्म समझो। जिसकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्म नहीं हैं।'[99] इस प्रकार श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म की उपासना-क्रिया की कर्मता का निषेध किया गया है। भामतीकार का भी यही मत है।[100]

(7) अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि ब्रह्म को अविषय कहा जाय तो उसमें शास्त्र-प्रतिपाद्यत्व भी नहीं बनेगा। फिर क्यों कहा जाता है कि ब्रह्म के लिए शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है? इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि शास्त्र केवल अविद्याकल्पित भेद की निवृत्ति करते हैं।[101] 'ब्रह्म ऐसा है' इस रूप में उसके स्वरूप का प्रतिपादन नहीं करते।[102] चूँकि शास्त्र अविद्याकल्पित भेद की निवृत्ति करते हैं, इस प्रकार उनके शास्त्रयोनित्व की उपपत्ति हो जाती है तथा 'ब्रह्म ऐसा है', इस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन न करने के कारण उसकी अविषयता का भी प्रतिपादन हो जाता है। अतः

---

93. न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः।
94. केन० 1/3, अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।
95. बृह० 2/4/13, येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्।
96. इति विदिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधात्।
97. तथोपस्तिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति।
98. केन० 1/4, यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
99. वही, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।
100. उपास्योपासकोपासनादिभेदसिद्ध्यधीनोपासना न निरस्तसमस्तभेदप्रपञ्चेवेदान्तवेद्ये ब्रह्मणि सम्भवतीति नोपासनाविधिशेषत्वम् वेदान्तानाम् तद्विरोधित्वाद् इत्यर्थः।
101. अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य।
102. न हि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति।

उपर्युक्त दोनों बातों में किसी प्रकार का विरोध समाप्त हो जाता है। इस प्रश्न के उत्तर में कि शास्त्र किस रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करता है, शंकराचार्य कहते हैं कि शास्त्र ब्रह्म को आत्मरूप व **अविषय** घोषित करता है तथा उसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानरूप किसी भी प्रकार के भेद का निषेध करता है।[103] श्रुति कहती है, 'जो ब्रह्म को अविज्ञात मानता है, वही उसको समझता है और जो ज्ञात मानता है, व उसके स्वरूप को नहीं समझता है। ज्ञात समझने वालों के लिए वह ब्रह्म अज्ञात ही है और अज्ञात समझने वालों के लिए ही वह ज्ञात है।'[104] इसी प्रकार, 'द्रष्टा साक्षीभूत को नहीं देख सकते हो तथा ज्ञान के साक्षीभूत ब्रह्म को नहीं जान सकते हो'[105] इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म की विषयता का स्पष्ट निषेध किया गया है। जब ब्रह्म बिलकुल अविषय है तो वह विदिक्रिया या उपस्ति क्रिया का विषय किस प्रकार बताया जा सकता है ? इस प्रकार अविद्या कल्पित संसारित्व की निवृत्ति द्वारा नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव ब्रह्म के स्वरूप का द्योतन होने से मोक्ष की अनित्यता भी नहीं हो पाती।[106] यदि किसी क्रिया के द्वारा मोक्ष की सिद्धि मानी जाय तो उसे अनित्य होने से कोई नहीं रोक सकता। किसी क्रिया के साथ सम्बन्ध न होने से ही मोक्ष नित्य होता है।

(8) ब्रह्म का क्रियाविधि से इसलिए भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वह न उत्पाद्य है, न विकार्य है, न प्राप्य है और न संस्कार्य ही है—

1. ब्रह्म या मोक्ष **उत्पाद्य** नहीं है। जिसके मत में मोक्ष उत्पाद्य हो, उसी के अनुसार मोक्ष की उत्पत्ति के लिए कायिक, वाचिक तथा मानसिक कर्म की आवश्यकता हो सकती है।[107] पर जो मोक्ष को नित्य मानते हैं, उनके लिए मोक्ष के साथ क्रिया का कुछ भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। यदि मोक्ष को उत्पाद्य मान लिया जाय तो मोक्ष निश्चित रूप में अनित्य हो जायगा क्योंकि घटादि रूप कोई भी उत्पाद्य पदार्थ संसार में नित्य नहीं देखा जाता।[108] **'घटं करोति'** उत्पाद्य कर्म है जिसका फल घट अनित्य है। पर मोक्ष नित्य है, अत: वह उत्पाद्य नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि जब शंकराचार्य मोक्ष की उत्पाद्यता का निषेध करते हैं तो उनका संकेत बौद्धों के उत्पद्यमान विशुद्ध विज्ञान क्षणों की ओर है। उनके अनुसार चित्त या विज्ञान में क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दो प्रकार के मल पाए जाते हैं जिनकी निवृत्ति ही चित्त की विशुद्धता है।[109] पर यहाँ कठिनाई यह है कि

---

103. किं तर्हि प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्य-वेदितृवेदनादिभेदमपनयति।
104. केन० 2/3, यस्याऽमतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः,अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।
105. बृह० 3/4/2, न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः। न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः।
106. अतोऽविद्याकल्पित संसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूपसमर्पणान्नमोक्षस्यानित्यत्वदोषः।
107. शांकर भाष्य, पृ० 127, यस्य तूत्पाद्यो मोक्षः तस्य मानसं, वाचिकं,कायिकं वा कार्यमपेक्षेत।
108. वही, तथा विकार्यत्वे च तयोः पक्षयोः मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्।
109. महायान सूत्र 13/16, धर्माभावोपलब्धिश्च निःक्लेशविशुद्धता।

मोक्ष को उत्पाद्य मानने पर उसमें अनित्यत्व का प्रसंग अवश्य उपस्थित हो जायगा। अतः, मोक्ष उत्पाद्य नहीं है। इसका तीसरा निहितार्थ यह है कि मोक्ष जो **कूटस्थ नित्य** है, वह उत्पाद्य कैसे हो सकता है ?

2. ब्रह्म या मोक्ष **विकार्य** भी नहीं है। **'ओदनं पचति'** में ओदन या भात 'पच्' धातु का विकार्य कर्म है। मोक्ष अविकार्य इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसे **'सर्वविक्रियारहितम्'** कहा जाता है। पर कुछ आचार्य कहते हैं कि आत्मा संसार रूप अवस्था छोड़कर कैवल्यावस्था वैसे ही प्राप्त करता है, जैसे स्वर्ण पिण्डावस्था को छोड़कर कटकादि में विकृत होता है। कुछ अन्य लोगों के अनुसार अवस्थान्तर-प्राप्तिरूप मोक्ष वैसे ही विकार्य है जैसे दूध का अपनी पूर्वावस्था को छोड़कर अवस्थान्तर की प्राप्ति दधिरूप विकार है। पर यहाँ कठिनाई यह है कि इन दोनों पक्षों में घट और दधि के समान मोक्ष में अनित्यत्व सिद्ध होता है।

3. ब्रह्म या मोक्ष **प्राप्य** भी नहीं है, क्योंकि वह **सर्वव्यापी** है। **'ग्रामं गच्छति'** में ग्राम 'गम्' धातु का प्राप्य कर्म है क्योंकि वह पुरुष के गमन-व्यापार से प्राप्त होता है। ब्रह्म प्राप्य इसलिए नहीं है क्योंकि जीवात्मा के स्वरूपभूत होने के कारण वह पहले ही प्राप्त है।[110] यदि ब्रह्म को जीवात्मा के स्वरूप से भिन्न माना जाय तो भी आकाश के समान सर्वव्यापक होने से वह पहले से ही प्राप्त है।[111] इसे हम एक दूसरे प्रकार से भी समझ सकते हैं। जिस प्रकार एक नाविक अपनी नौका को तट के समीप अत्यन्त चपल और उत्ताल तरंगों से विकृत जल को छोड़कर मध्य समुद्र के प्रशान्त क्षेत्र में उसे ले जाता है, उसी प्रकार जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। पर इसका प्रतिवाद करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि जीव तो ब्रह्मस्वरूप ही है, अतः वह किस अन्य पदार्थ को प्राप्त करेगा ? प्राप्ति-क्रिया सदैव प्रापक और प्राप्य के भेद की अपेक्षा करती है, पर प्रकृत में प्रापक (जीव) और प्राप्य (ब्रह्म) का भेद न होने के कारण प्राप्ति सम्भव नहीं। फलतः मोक्ष में प्राप्यकर्मता क्योंकर सिद्ध होगी ? यदि थोड़े समय के लिए जीव को ब्रह्म से भिन्न भी मान लिया जाय तो भी वह प्राप्य नहीं हो सकता क्योंकि लोक में प्राप्य वही माना जाता है जो कभी अप्राप्त हो। पर ब्रह्म तो विभु होने के कारण सदैव प्राप्त ही है। अतः, मोक्ष प्राप्य कभी नहीं हो सकता।

4. ब्रह्म या मोक्ष **संस्कार्य** भी नहीं है जिससे कि कर्म-व्यापार की अपेक्षा हो।[112]

---

110. न चाप्यत्वेनापि कार्यपेक्षा, स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात्।

111. स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वम्, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मणं, आकाशस्येव।

112. नापि संस्कार्यो मोक्षः, येन व्यापारम् अपेक्षेत।

संस्कार्य पदार्थ में संस्कार दो प्रकार से उत्पन्न होता है : प्रथम **गुणाधानरूप संस्कार** एवं द्वितीय **दोषापनयन संस्कार**। ब्रह्म में **गुणाधान रूप संस्कार** संभव नहीं है क्योंकि वह अनाधेयातिशय रूप है।[113] दूसरी बात यह है कि यदि ब्रह्म में गुणाधान रूप संस्कार मान लिया जाय तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि ब्रह्म पर जो गुण उत्पन्न किया गया है, वह क्या ब्रह्म का स्वरूप है अथवा ब्रह्म से भिन्न ? यदि वह स्वभाव है तब वह आधेय नहीं हो सकता क्योंकि नित्य ब्रह्म का स्वरूप भी नित्य ही है। संस्कार को ब्रह्म से भिन्न और उत्पाद्य मानने पर मोक्ष में अनित्यापत्ति होगी[114] जो ठीक नहीं है। अत्यन्त भेद मानने पर संस्कार और ब्रह्म का उसी प्रकार धर्मधर्मिभाव नहीं बन सकता जिस प्रकार गौ और अश्व का उनके बीच भेदाभेद सम्बन्ध नहीं बन सकता क्योंकि यह परस्पर-विरुद्ध है। इसी प्रकार ब्रह्म में **दोषापनयन संस्कार** भी सम्भव नहीं है क्योंकि जब दृष्टान्त-स्थल पर अशुद्धि होगी तभी उसकी निवृत्ति हो सकती है किन्तु ब्रह्म पर अशुद्धि की सत्ता तीनों कालों में भी नहीं है। ऐसी स्थिति में निवृत्ति पदार्थ की निवृत्ति क्योंकर होगी ? उसके नित्यशुद्ध होने के कारण भी दोषापनयन संस्कार सम्भव नहीं है।

यहाँ एक दूसरा प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है। जिस प्रकार दर्पण के मलिन हो जाने पर निघर्षण-क्रिया के द्वारा उसका भास्वरत्व प्रस्फुटित होता है, उसी प्रकार जीवात्मा का स्वरूपभूत मोक्ष भी अविद्या के कारण तिरोभूत हो जाने पर उपासनादि क्रिया के द्वारा सुसंस्कृत होकर उसमें अभिव्यक्त होता है। अतः मोक्ष को संस्कार्य कर्म कहा जा सकता है। पर, शंकराचार्य के अनुसार यह ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म किसी क्रिया का आश्रय नहीं हो सकता है।[115] क्रिया जिसमें रहती है, उसमें विकार पैदा किए बिना उस क्रिया की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है।[116] यदि क्रिया के द्वारा आत्मा में विकार माना जायगा तो आत्मा अनित्य हो जायगा। इसलिए आत्मा में स्वाश्रित क्रिया नहीं रह सकती। दूसरे में रहने वाली क्रिया का विषय आत्मा नहीं होता, इसलिए उसके द्वारा भी ब्रह्म का संस्कार नहीं हो सकता। अतः दर्पण के भास्वरत्व धर्म के समान आत्मा में उपासनादि क्रिया के द्वारा संस्कार होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है, वृत्तकारों का यह मत ठीक नहीं है।

यहाँ एक तीसरा प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि जिस प्रकार शरीर में घटित होने वाली स्नान, आचमन, यज्ञोपवीतादि क्रियाओं के द्वारा शरीरी, अर्थात् आत्मा का

113. अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य।
114. नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य।
115. क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः।
116. यदाश्रया हि क्रिया तमविकुर्वती नैवात्मानं लभते।

संस्कार देखा जाता है, उसी प्रकार अन्याश्रित क्रिया के द्वारा प्रत्यगात्मा में संस्कार हो सकता है। पर शंकराचार्य के अनुसार यह मत ठीक नहीं है। यहाँ विशुद्धात्मा का संस्कार नहीं होता, वरन् देहादि से संहत और अविद्याग्रस्त **जीवात्मा का संस्कार होता है।**[117] जिस प्रकार देह की **चिकित्सा द्वारा** उत्पन्न होने वाले धातुसाम्य से शरीर में संहत और देहाभिमान करने वाले को ही **'मैं नीरोग हो गया हूँ'** इस प्रकार का आरोग्यफल बुद्धि उत्पन्न करती है, इसी प्रकार स्नान, आचमन, यज्ञोपवीतादि के द्वारा 'मैं सस्कृत हुआ हूँ' इस प्रकार का आत्माभिमान बुद्धि उत्पन्न करती है, वहाँ जीवात्मा का ही संस्कार होता है, विशुद्ध आत्मा का नहीं। अहंकार करने वाले अहं प्रत्यय के विषयभूत ज्ञाता (जीवात्मा) के द्वारा ही सारी क्रियाओं का सम्पादन किया जाता हैं और उसके फल का भोग भी वही करता है।[118] श्रुति भी कहती है, 'उन दोनों में से एक स्वादिष्ट कर्मफलों का भोग करता है और दूसरा भोग न करता हुआ प्रकाशमान रहता है।'[119] दूसरी श्रुति कहती है, इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को ही विद्वान् लोग भोक्ता कहते हैं।[120] तीसरी श्रुति कहती है, 'समस्त प्राणियों में छिपा हुआ, सर्वव्यापी, समस्त भूतों का अन्तर्यामी, कर्मों का अध्यक्ष, सभी प्राणियों का आश्रय ईश्वर साक्षी, केवल और निर्गुण है।'[121] अन्तिम श्रुति घोषित करती है कि ईश्वर अनाधेय, अतिशय एवं नित्यशुद्ध है। उसमें गुणाधानरूप संस्कार नहीं हो सकता। ब्रह्मभाव की प्राप्ति ही मोक्ष है। अतः मोक्ष संस्कारी कर्म नहीं है। उपर्युक्त चार प्रकार के कर्मों के अतिरिक्त मोक्ष में क्रिया के सम्बन्ध को प्रदर्शित करने वाला अन्य कोई मार्ग सम्भव नहीं है। अतः सिद्ध हुआ कि ब्रह्म या मोक्ष के सम्बन्ध में ज्ञान के अतिरिक्त किसी क्रिया के लेशमात्र का भी सम्पर्क यहाँ नहीं हो सकता।[122]

(9) वृत्तिकार यहाँ एक अन्य प्रश्न उठाते हैं। उनके अनुसार, यदि मान भी लिया जाय कि ब्रह्म का किसी क्रिया से सम्बन्ध न होकर केवल ज्ञान से ही सम्बन्ध है, पर यहाँ भी क्रिया का सम्बन्ध बना ही रहता है, क्योंकि ज्ञान भी तो एक प्रकार की मानसिक क्रिया ही तो है? अतः यहाँ कोई विलक्षणता नहीं दिखाई देती। इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि वृत्तिकारों का यह आक्षेप ठीक नहीं है। ज्ञान और क्रिया में वास्तविक भेद

---

117. देहादिसंहतस्यैवाविद्यागृहीतस्यात्मनः संस्क्रियमाणत्वात्।
118. तेनैव ह्यहं कर्ताहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रिया निर्वर्त्यन्ते। तत्फलं च सएवाश्नाति।
119. मुण्ड० 3/1/1, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नयो अभिचाकशीति।
120. कठ० 1/3/4, आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।
121. श्वेता० 6/11, एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
122. तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्यानुप्रवेश इह नोपपद्यते।

पाया जाता है। यह भेद दो प्रकार का है—प्रथम भेद यह है कि उपासनादिरूप क्रिया वह होती है जो वस्तु के स्वरूप की चिन्ता किए बिना ही विधान कर दी जाती है। अर्थात् वह **वस्तुस्वरूपनिरपेक्ष** होती है।[123] उदाहरण के लिए, 'मन की या आदित्य की ब्रह्म रूप में उपासना करे', यहाँ उपासना क्रिया है। पर यहाँ उपासना करते समय यह ध्यान में नहीं रखा गया कि मन ब्रह्म है भी कि नहीं है। इसीलिए इसे वस्तुस्वरूपनिरपेक्ष कहा गया। इसके विपरीत, ज्ञान **वस्तुस्वरूपसापेक्ष** होता है। प्रत्यक्ष विषय वस्तुतन्त्र ही होता है, अतः वह ज्ञान ही होता है, क्रिया नहीं।[124] यह बात समस्त प्रमाणभूत वस्तुओं पर लागू होती है। ऐसी स्थिति में भूतवस्तु ब्रह्म और आत्मा के विषय का ज्ञान भी वस्तुतन्त्र ही है, वह चोदनातन्त्र नहीं है।[125] ज्ञान और क्रिया में दूसरा भेद यह है कि उपासनादि क्रिया **पुरुषव्यापारतन्त्र** होती है,[126] पर ज्ञान सदा वस्तुतन्त्र होता है। उदाहरण के लिए, 'जिस देवता को हवि प्रदान की जाती है, उसका मन में ध्यान करे', और 'सन्ध्या का मन में ध्यान करे' इत्यादि में यद्यपि ध्यान, चिन्तन मानसिक व्यापार हैं, किन्तु पुरुष उसको करने, न करने या अन्यथा करने में स्वतन्त्र है, क्योंकि वह पुरुषव्यापार के अधीन है।[127] इसके विपरीत, ज्ञान **प्रमाणजन्य** है और प्रमाण सदा वास्तविक अर्थ को ग्रहण करता है, अतः वह कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् शक्य नहीं है।[128] वह केवल वस्तुतन्त्र ही है; चोदनातन्त्र नहीं है और न वह पुरुषतन्त्र ही है।[129] अतः ज्ञान के मानस-व्यापाररूप होने पर भी उपासनादि क्रियाओं से उसमें अत्यन्त भेद पाया जाता है।[130] यही बात ब्रह्मज्ञान पर भी लागू होता है। अतः ब्रह्म के विषय में लिङादि विधिप्रधान प्रत्यय सुने जाने पर भी विधान का विषय न होने से पत्थर पर मारे हुए छुरे की धार के समान कुण्ठित हो जाते हैं[131] क्योंकि वे अहेय और अनुपादेय तत्त्व से सम्बन्ध रखते हैं।

(10) अब यहाँ एक प्रश्न और उत्पन्न होता है। यदि ब्रह्म का क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है तो **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'** इत्यादि विधि-सदृश वाक्यों का विधान क्यों किया गया

---

123. क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते।
124. प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रैवेति ज्ञानमेवैतन्न क्रिया।
125. यथाभूत ब्रह्मात्मभूतविषयमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम्।
126. क्रिया हि नाम सा यत्र पुरुषचित्तव्यापाराधीना च।
127. ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसं तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुम् शक्यं पुरुषतन्त्रत्वात्।
128. ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम्। प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयमतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यं।
129. केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्। न चोदनातन्त्रम्। नापि पुरुषतन्त्रम्।
130. तस्मान्मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम्।
131. तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात्कुण्ठी भवन्त्युपलादिषु प्रयुक्त क्षुरतैक्ष्ण्यादिवत्, अहेयानुपादेयवस्तु विषयत्वात्।

है ? इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि ये विधि-वाक्य स्वाभाविक प्रवृत्ति या लौकिक व्यापार के विषयों से विमुख करने के लिए ही हैं।[132] जो व्यक्ति इष्ट की प्राप्ति व अनिष्ट की अप्राप्ति की भावना से बाह्य कार्यों में प्रवृत्त होता है, उसे आत्यन्तिक पुरुषार्थ या मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसे अन्तिम पुरुषार्थ की इच्छा रखने वाले पुरुष को लौकिक व्यापारों से विमुख करके 'आत्मा वा अरे दृष्टव्यः' इत्यादि वचन अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार कराने में सहायक होते हैं।[133] इस प्रश्न के उत्तर में कि यदि आत्मज्ञान कर्त्तव्यप्रधान नहीं है तो वह किसी हानि-उपादान में समर्थ नहीं हो सकेगा। भाष्यकार कहते हैं कि वृत्तिकार की इस बात को हम ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेते हैं। ब्रह्म और आत्मा के एकत्वज्ञान के बाद सारे कर्त्तव्यों की समाप्ति हो जाती है और मोक्षरूप फल की प्राप्ति हो जाती है।[134] यह बात हमारे लिए अलंकार-स्वरूप ही है। श्रुति कहती है, 'मैं यह हूँ, इस रूप में यदि अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो जाय तो फिर किस फल की कामना से, और किस इच्छा से अपने शरीर को सतायेगा?'[135] गीता कहती है, 'हे भरतपुत्र ! इस आत्मतत्त्व को जानकर पुरुष बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है।'[136] इस प्रकार किसी भी प्रकार उपासना-विधि के अंगरूप में ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।[137]

मीमांसक मतानुयायी प्रभाकर के अनुसार, 'प्रवृत्ति-निवृत्ति और उनके अंगों को छोड़ कर केवल वस्तु का प्रतिपादन करने वाला कोई वेद-भाग हो ही नहीं सकता।'[138] किसी क्रिया के अंगरूप में ही ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। पर शंकराचार्य इस मत को स्वीकार नहीं करते। उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म किसी क्रिया का अंग नहीं है।[139]

उपनिषदों में स्वतन्त्र रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। उपनिषदों में जिस असंसारी और उत्पाद्यादि द्रव्यों से भिन्न ब्रह्म का उपदेश किया गया है, वह नहीं है या नहीं

---

132. स्वाभाविक प्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः।
133. तमात्यान्तिक पुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविक कार्यकारणसंघात प्रवृत्तिगोचराद्विमुखी कृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति।
134. अलंकारो ह्यमस्माकं यद् ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्त्तव्यताहानिः, कृतकृत्यता चेति।
135. बृह० 4/4/12, आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।
136. भ० गी० 15/20, एतद्बुध्वा बुद्धिमानस्यात्कृतकृत्यश्च भारत।
137. तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम्।
138. प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवल वस्तुवादी वेदभागो नास्ति।
139. औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात्।

ज्ञात है, ऐसा कहना सम्भव नहीं है ।[140] श्रुति कहती है, 'वह ब्रह्म यह (संसारी पदार्थ) नहीं है, उससे भिन्न आत्मा है ।'[141] 'आत्म' शब्द का प्रयोग होने से और आत्मा का खण्डन असम्भव होने से ब्रह्म का निषेध नहीं किया जा सकता[142] क्योंकि जो कोई आत्मा का निषेध करेगा, वही आत्मा कहलाएगा ।[143] अतः, पूर्वमीमांसकों का यह कहना कि उपनिषदों में स्वतन्त्र रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं किया गया है, ठीक नहीं है ।

(11) यदि 'सारा वेद क्रिया का प्रतिपादन है, इसीलिए जो वेदभाग क्रिया का प्रतिपादन नहीं करते, वे अनर्थक हैं'[144], इस बात को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया जाय तो इससे कई प्रकार की **हानियाँ** उत्पन्न हो जाती हैं ।

(i) **प्रथम** हानि तो यह होगी कि वेद में जितने सिद्धवस्तुप्रतिपादक वाक्य होंगे, वे निरर्थक हो जायँगे ।[145] कर्मकाण्ड में जब सिद्ध पदार्थ का उपदेश किया जाता है तो वह सिद्ध पदार्थ क्रिया नहीं बन जाता;[146] वह क्रिया के लिए ही होता है । यदि यह कहा जाय कि क्रियारूप न होने पर भी भूतवस्तु के क्रिया का साधन होने से क्रिया के लिए ही उसका उपदेश किया गया है, अतः वह क्रियार्थक है, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उस दशा में भी क्रिया को सम्पादन करने में समर्थ भूतवस्तु का उपदेश तो किया ही गया ।[147] **क्रियार्थता** उसका केवल प्रयोजन है ।[148] इससे भूतवस्तु का उपदेश नहीं किया गया है, यह बात सिद्ध नहीं होती ।

(ii) **द्वितीय हानि** निषेध वाक्यों के स्थल पर उत्पन्न होती है । **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'** इत्यादि निषेधवाक्य मनुष्य को ब्राह्मण-हनन आदि कार्यों से निवृत्त करते हैं । किन्तु यह न तो क्रियारूप है और न क्रिया का साधन ही है । यदि अक्रियार्थक वाक्यों का आनर्थक्य माना जाय तो सारे निषेधवाक्यों की अनर्थकता सिद्ध हो जायगी जो इष्ट नहीं कहा जा

---

140. नासौ नास्ति नाधिगम्यत इति वा शक्यं वदितुम् ।
141. बृह० 2/9/26, स एष नेति नेत्यात्मा ।
142. इत्यात्मशब्दात्, आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात् ।
143. य एव निराकर्तातस्यैवात्मत्वप्रसङ्गात् ।
144. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् ।
145. इत्येतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां भूतोपदेशानर्थक्यप्रसंगः ।
146. नहि भूतमुपदिश्मानं क्रिया भवति ।
147. क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तनशक्तिमद्वस्तूपदिष्टमेव ।
148. क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य ।

सकता । अत: क्रियापरता के सिद्धान्त को असीमित रूप में कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

उपर्युक्त बात को हम दूसरी तरह भी समझ सकते हैं । 'ब्राह्मणो न हन्तव्य:' इत्यादि उदाहरणों में हननक्रियानिवृत्ति रूप औदासीन्य ही नञ् का अर्थ है । इससे भिन्न किसी अन्य अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकतीं ।[149] ब्राह्मण का हनन नहीं करना चाहिए, इसमें केवल 'हनन क्रिया' का निषेध किया गया है, इसके स्थान पर किसी अन्य क्रिया के करने का विधान नहीं किया गया है । पर 'प्रजापति व्रत' में ऐसी बात नहीं देखी जाती । यहाँ यदि एक क्रिया के निषेध की बात कही जाती है तो उसके स्थान पर दूसरी क्रिया के करने का विधान भी किया जाता है । प्रजापति व्रत में स्नातकों को व्रतग्रहण करते समय आदेश दिया जाता है, 'उदय होते हुए आदित्य का दर्शन न करे ।'[150] यहाँ यदि नञ् का सम्बन्ध ईक्षण क्रिया के साथ मानकर प्रसज्यप्रतिषेधात्मक माना जाय तो यह ईक्षण क्रिया की निवृत्ति का सूचक होगा । यह निवृत्ति क्रियारूप न होकर औदासीन्यरूप ही है । उपर्युक्त वाक्य का औदासीन्यरूप मानने पर स्नातकों के व्रत का अनुष्ठान पूरा न होगा । इस अनुष्ठान को पूरा करने के लिए उपर्युक्त आदेश का निम्न अर्थ किया जाता है : 'उदय होते हुए आदित्य के दर्शन के विरुद्ध संकल्प करना चाहिए ।'[151] पर यह व्याख्या 'प्रजापति व्रत' आदि अपवाद-स्थलों में ही की जाती है, अन्य स्थलों में नहीं । अत:, 'ब्राह्मणों न हन्तव्य:' में हननक्रिया निवृत्तिरूप औदासीन्य नञ् की ही अभिव्यक्ति होती है । नञ् का यह स्वभाव है कि जिसके साथ उसका सम्बन्ध होता है, उसके अभाव का बोध कराता है ।[152] अभाव का बोध औदासीन्य का कारण होता है ।[153] वह औदासीन्य बुद्धि दग्धेन्धन अग्नि के समान स्वयं ही शान्त हो जाती है । अत: प्रजापति व्रत इत्यादि स्थलों को छोड़कर 'ब्राह्मणो न हन्तव्य:' इत्यादि स्थलों में प्राप्त हनन क्रिया से निवृत्तिरूप औदासीन्य को ही हम नञ् का अर्थ मानते हैं । इसलिए, अक्रियार्थक वेदभाग का जो आनर्थक्य यहाँ कहा गया है, वह आनर्थक्य का कथन पुरुषार्थ के अनुपयोगी उपाख्यान आदि के लिए ही किया

149. न च स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः शक्यमप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुं, हननक्रियानिवृत्यौदासीन्यव्यतिरेकेण ।
150. नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन ।
151. उद्यदादित्यदर्शन विरुद्धं संकल्पं कुर्यात् ।
152. नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसम्बन्धिनोऽभावं बोधयतीति ।
153. अभावबुद्धिश्चौदासीन्यकारणम् ।

गया है, अन्यों के लिए नहीं ।[154]

(12) पूर्वपक्ष कह सकता है कि वेदान्ती भी स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान होने पर भी संसारित्व पूर्ववत् बना रहता है, अत: रज्जु के स्वरूप-कथन से सर्पभ्रान्ति की निवृत्ति के समान ब्रह्मज्ञान से संसारित्व की निवृत्ति नहीं मानी जा सकती । इस आक्षेप के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि यह बात कभी भी स्वीकार नहीं की जा सकती कि ब्रह्मज्ञानी को भी यथापूर्व संसारित्व बना रहता है क्योंकि ऐसा मानने पर वेदप्रमाण द्वारा ब्रह्मरूपता प्राप्ति के साथ विरोध होगा ।[155] अत: ब्रह्मज्ञानी को संसारित्व नहीं रहता, उसे ब्रह्मरूपता की प्राप्ति हो जाती है । यही शास्त्रसम्मत सिद्धान्त है । इसके लिए शंकराचार्य दो दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं । एक धनी गृहस्थ हैं जिसके मन में अपने धन के प्रति अभिमान है । यदि इस समय कोई उसके धन का अपहरण कर लेता है तो उसके मन में अपार दु:ख उत्पन्न होता है । पर उसी के संन्यास ग्रहण कर लेने और धन के अभिमान से रहित हो जाने पर उसी प्रकार का धनापहरणजनित दु:ख उसके मन में उत्पन्न नहीं होता। कुण्डल धारण करने वाले को कुण्डल में अभिमान होने के कारण जिस प्रकार का सुख देखा जाता है, उसी प्रकार का सुख कुण्डल से रहित और कुण्डल में अभिमानरहित पुरुष को कुण्डलत्वाभिमानजनित सुख नहीं होता है । इसी प्रकार शरीर में आत्माभिमानरहित ब्रह्मज्ञानी को यथार्थ संसारित्व नहीं रहता ।

(13) यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि मोक्ष को अशरीरत्व कहा जाता है ।[156] यह अवस्था शरीर के नष्ट हो जाने पर ही बन सकती है । अत:, जब तक शरीर रहेगा, तब तक उसका कर्म के साथ कोई न कोई सम्बन्ध तो बना ही रहेगा । यदि जीवित अवस्था में ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है तो वह विधि अंग-रूप में ही स्वीकार की जा सकती है । इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि सशरीरत्व वास्तविक नहीं, अपितु मिथ्याज्ञान-निमित्तक होता है ।[157] शरीर में आत्माभिमानरूप मिथ्याज्ञान को छोड़कर अन्य किसी कारण से आत्मा में सशरीरत्व की कल्पना नहीं की जा सकती । आत्मा में सशरीरत्व कर्म-निमित्तक न होकर मिथ्याज्ञान-निमित्तक होता है । कर्म से इसका कोई सम्बन्ध नहीं । ज्यों ही मिथ्याज्ञान का परिहार हुआ, सशरीरत्व का विनाश हो गया। इसके लिए शरीर-पतन की प्रतीक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं है । कर्म-निमित्तक न होने से ही

154. तस्मात्पुरुषार्थानुपयोग्युपारव्यानादि भूतार्थवादविषयमानर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम् ।
155. नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्व संसारित्वं शक्यं दर्शयितुं वेदप्रमाणजनित-ब्रह्मात्मभावविरोधात् ।
156. छन्दो० 8 /12/1, अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।
157. सशरीरत्वस्य मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात् ।

नित्य अशरीरत्व होता है ।[158]

(14) कुछ पूर्व दार्शनिक यह कहते हैं कि सशरीरत्व जीवात्मा द्वारा किए गए धर्म और अधर्म का वास्तविक परिणाम है । अतः, सशरीरत्व मिथ्या न होकर वास्तविक ही है.। अतः, क्रिया के साथ इसके सम्बन्ध की कल्पना तो करनी ही होगी । इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि ऐसा सोचना ठीक नहीं है । जब आत्मा के साथ शरीर का ही सम्बन्ध सिद्ध नहीं है तो उसके द्वारा किए गए धर्माधर्म के साथ आत्मा की संगति कैसे सिद्ध की जा सकती है ?[159] यदि यह कहा जाय कि शरीर-सम्बन्ध और धर्माधर्मकर्तृत्व अनादि काल से चले आ रहे हैं, तो इसमें अन्योन्याश्रय दोष की प्राप्ति होगी और यह अन्ध परम्परा का ही निर्वाह करेगा ।[160] इसके अतिरिक्त आत्मा में क्रिया के न होने से आत्मा को कर्त्ता भी नहीं माना जा सकता ।[161]

(15) कुछ लोग यह कह सकते हैं कि यह ठीक है कि आत्मा कर्त्ता नहीं है, पर संनिधान से आत्मा को कर्त्ता माना जा सकता है । जिस प्रकार संनिधान मात्र से राजा आदि का कर्तृत्व देखा जाता है, इसी प्रकार शरीरादि के साथ सन्निधान मात्र से आत्मा में कर्तृव्य देखा जा सकता है ।[162] इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि ऐसा सोचना ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ धनदानादि द्वारा भृत्य-सम्बन्ध को सम्पादित करने के कारण राजादि का कर्तृत्व सिद्ध हो सकता है ।[163] पर धनदानादि के समान आत्मा का शरीरादि के साथ स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध कल्पना करने का कोई कारण नहीं है । मिथ्याभिमान ही शरीर के साथ आत्मा के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष हेतु है ।[164] जिस प्रकार आत्मा और शरीर का सम्बन्ध मिथ्याभिमान के कारण होता है, उसी प्रकार आत्मा का यजमानत्व भी मिथ्या ज्ञान के कारण ही होता है ।

(16) यहाँ कुछ लोग यह आपत्ति उठाते हैं, कि आत्मा को जो शरीरादि में अभिमान होता है, वह मिथ्या न होकर गौण ही होता है। अतः, उनके सम्बन्ध को मिथ्याज्ञान-निमित्तक मानना ठीक नहीं है । इस आपत्ति के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि

---

158. नित्यमशरीरत्वमकर्म निमित्तत्वादित्यवोचाम ।
159. शरीरसम्बन्धस्यासिद्धत्वाद्धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धः ।
160. शरीरसंबन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसंगादन्धपरम्परैषाऽना दित्वकल्पना ।
161. क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः ।
162. संनिधानमात्रेण राजप्रभितीनां दृष्टं कर्तृत्वम् ।
163. धनदानाद्युपार्जितवृत्त्यसम्बन्धित्वात्तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः ।
164. मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः सम्बन्धहेतुः ।

जहाँ दो वस्तुओं का भेद ज्ञात होता है, वहीं गौणत्व और मुख्यत्व का व्यवहार देखा जाता है,[165] अन्यत्र नहीं। उदाहरण के लिए, जिस व्यक्ति को अन्वय-व्यतिरेक द्वारा सिंह और पुरुष का भेद ज्ञात है, उस व्यक्ति को पुरुष में जो सिंह शब्द का प्रयोग किया गया है, वह गौण है, किन्तु जिस व्यक्ति को सिंह और पुरुष का भेद ज्ञात नहीं है, उस व्यक्ति के लिए पुरुष में सिंह शब्द का प्रयोग भ्रान्ति-निमित्तक होता है, गौण नहीं। यहाँ शंकराचार्य ने एक दूसरा उदाहरण देकर भी गौण और मिथ्या के भेद को समझाने की चेष्टा की है। जिस प्रकार हलके अंधकार के समय 'यह स्थाणु है' इस प्रकार के विषय अर्थ का ग्रहण न होने पर स्थाणु के लिए 'पुरुष' शब्द का प्रयोग मिथ्या कहा जायगा, गौण नहीं, उसी प्रकार देहादि में उपचार या विवेक के बिना ही 'आत्मा' शब्द का प्रयोग गौण कैसे कहा जा सकता है ? यह गौण न होकर मिथ्या ही होता है। इस प्रकार आत्मा में सशरीरत्व के मिथ्या सिद्ध हो जाने पर जीवित रहने पर भी विद्वान् का अशरीरत्व बन सकता है।[166] इसी सत्य को व्यक्त करने के लिए श्रुति कहती है, 'जिस प्रकार साँप की केंचुली साँप के निकल जाने के बाद बामी में मृत के सदृश पड़ी रह जाती है, उसी प्रकार शरीर में अभिमान समाप्त हो जाने के बाद यह शरीर पड़ा रह जाता है और यह आत्मा अशरीर, अमृतस्वरूप, प्राणस्वरूप एवं तेजस्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है।'[167] इसी जीवन्मुक्ति का वर्णन दूसरी श्रुति इन शब्दों में करती है, 'आँखें रहते हुए भी चक्षुविहीन के समान, कानों के रहते हुए भी कानों से विहीन के समान, वाणी रहते हुए भी मूक के समान, मन से युक्त होने पर भी मन से विहीन के समान, प्राणयुक्त होने पर भी प्राणरहित के समान ब्रह्मज्ञानी होता है।'[168] गीता भी यही कहती है, 'स्थितप्रज्ञ की कोई भाषा नहीं होती।'[169] अतः जिसको जीवात्मा की ब्रह्मरूपता का ज्ञान हो गया है, उसके लिए संसारित्व समाप्त हो जाता है।[170] इसके विपरीत, जिस व्यक्ति के लिए संसारित्व बना रहता है, उसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति ही नहीं हुई है, ऐसा समझना चाहिए।[171]

(17) यदि यह कहा जाय कि श्रवण के बाद मनन और निदिध्यासन का विधान किया जाता है, अतः ब्रह्म को उपासना-विधि का अंग मानना चाहिए। शंकराचार्य के अनुसार यह ठीक नहीं है क्योंकि मनन और निदिध्यासन ब्रह्मज्ञान के साध्य नहीं, वरन्

165. प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः।
166. तस्मान्मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात्सशरीरत्वस्य सिंद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्।
167. बृह० 4/4/7, तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमे वेदं शरीरं शेते। अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव॥
168. सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव।
169. गीता 2/54, स्थितप्रज्ञस्य का भाषा।
170. तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य संसारित्वम्।
171. यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वम् नासाववगत ब्रह्मात्मभाव इत्यनवद्यम्।

साधनरूप ही हैं ।[172] यदि ब्रह्मज्ञान के बाद उसका उपासनादि में विनियोग किया जाय, तब उसे विधि का अंग कहा जा सकता है, पर ऐसी बात कहीं नहीं देखी जाती । अत: उपासना विधि के अंगरूप में शास्त्र द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन सम्भव नहीं है ।[173] स्वतन्त्र रूप से ही उपनिषद्वाक्यों द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है ।[174] शंकराचार्य के अनुसार सारी विधियाँ एवं सारे प्रमाण **"मैं ब्रह्म हूँ"** इस साक्षात्कारात्मक ज्ञान में ही परिसमाप्त हो जाते हैं ।[175] अहेय और अनुपादेय ब्रह्म और आत्मा का ज्ञान हो जाने पर प्रमातृ-विहीनता तथा प्रमेय-विहीनता के कारण प्रमाण टिक ही नहीं सकते ।[176] अत: ब्रह्म के किसी विधि के अंग होने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता ।

---

172. अश्रवणवत् अवगत्यर्थत्वान्मनननिदिध्यासनयो: ।
173. तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्र: प्रमाणकत्वं ब्रह्मण: संभवति ।
174. अत: स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्र प्रमाणकं वेदान्तवाक्यसमन्वयात् ।
175. तस्मादहं ब्रह्मास्मीति एतदवसाना एवं सर्वे विधय: सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि ।
176. न ह्यहेयानुपादेयाद्वैतात्मावगतौ निर्विषयाण्यप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुम् र्हन्तीति ॥